प्रकाशक—

श्रीपन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था,

नं० १ विश्वकोषलेन, कलकत्ता।



मुद्रक—

श्रीराखालचंद्रमित्र

विश्वकोष प्रेस, नं० १ विश्वकोषलेन,

कलकत्ता।

आवेदन।

ज्ञान दो प्रकारके माने हैं एक अ ध्यात्मज्ञान और दूसरा लौकिकज्ञान। आत्मध्यानसे अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति होती है और लौकिक पदार्थोंकी छानवीनसे लौकिक ज्ञानका लाभ होता है। यद्यपि संसारमें लौकिक ज्ञानकी भी उपयोगिता है परंतु अध्यात्मज्ञानकी वह अनंतांश भी तुलना नहिं कर सकता। लौकिकज्ञानको प्राप्तकर हम एक ही भवमें कुछ कीर्ति और विभूतिका उपार्जन कर अपनी आत्माको शांत बना सकते हैं परंतु अध्यात्मज्ञानके अंदर यह एक अपूर्व और विलक्षण सामर्थ्य है कि वह प्रत्येक जन्ममें हमारी आत्माको शांत बनाता है। इतनाही नहीं अंतमें भी उससे वह शांति मिलती है जो निराकुलतामय और अभूतपूर्व-पहिले कभी भी नहिं प्राप्त, कही जाती है।

हमारी असली शांतिके वाधक हमारी इच्छा चिंता स्वार्थवासना और क्रोध आदि कषाय हैं। हमें इसवातका पूर्ण अनुभव है कि ज्यों ज्यों हमारी इच्छा चिंता स्वार्थ वासना और क्रोध आदि शांत होते चले जाते हैं त्यों २ हमारी आत्माको भी शांति मिलती चली जाती है। हम देखते हैं जिस मनुष्यके पास दश करोड़की संपत्ति है यदि वह वीस करोड़ करना चाहता है तो अहोरात्र वीस करोड़के जुटाने तथा उसकी रक्षा करनेकी चिंता आदिसे सदा व्यग्र बना रहता है और उसकी चेष्टाओंसे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इसकी आत्मा किसी गहरी हलचलमें फसी हुई है किंतु जो मनुष्य दो आनेका मजदूर है और जिसे इसवातका पूर्ण विश्वास है कि मुझे दिनभर परिश्रम करनेपर दो आने मिल सकते हैं और उनसे मेरा खासा गुजारा चल सकता है तो वह किसी प्रकारकी चिंता आदि नहिं करता। हमारा यह कहना नहीं है लौकिक ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा अनावश्यक है परंतु हमारा यह आग्रह है कि लौकिकज्ञानमें ही लिप्त न हो जाओ अध्यात्म ज्ञानकी ओर भी झुकना चाहिये क्योंकि वही निराकुलतामय सुखका कारण है और लौकिक ज्ञान निराकुलतामय सुख कदापि प्राप्त नहि करा सकता।

पाठक ! आज हम ऐसे ही अध्यात्मज्ञानकी ओर झुकानेवाले एक अपूर्व ग्रंथको आपके करकमलोंमें समर्पित करनेके लिये तत्पर हुये हैं इस ग्रंथका अश्रुतपूर्व नाम तत्त्वज्ञानतरंगिणी है और इसके कर्ता मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषण हैं। इस ग्रंथमें अठारह अध्याय हैं और उनमें बड़ी स्पष्टतासे शुद्धचिद्रूपका वर्णन किया गया है। इसग्रंथके प्रथम अध्यायमें शुद्धचिद्रूपका स्वरूप बतलाया है और शेष अध्यायोंमें उसकी प्राप्तिके कारण निरूपण किये हैं। इस ग्रंथकी रचना बड़ी ही स्फुट और महत्त्वकी है इनकी रचनासे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि ये पूर्ण आत्मज्ञानी थे।

इस ग्रंथके प्रत्येक श्लोकको बांचते ही मारे आनंदके हृदय गद्गद हो जाता है और सब ओरसे हटकर चित्त इसीमें लीन होजाता है। ग्रंथकर्तांने इसग्रंथकी रचनामें यहांतक प्रयत्न किया है कि इसे पुराणोंसे भी अधिक सरल बना दिया है इसलिये हमें विश्वास है कि कोई भी साक्षर इनकी कृतिकी विना प्रशंसा किये रह नहिं सकता उसे बाचते ही इस ग्रंथकी जबरन प्रशंसा करनी ही पड़ेगी।

प्रायः यह देखनेमें आता है कि वर्तमानके इंग्रेजीदा नवयुवक किसी इंग्रेजके वचनको जो कुछ ही आत्माके स्वरूप वर्णनमें संबध रखता है ईश्वरका वचन मानलेते हैं इतना ही नहीं उसकी मुक्तकंठसे यह प्रशंसा भी कर निकलते है कि वाह !!! क्या ही अच्छा लिखा है हम कह सकते हैं कि वे अपने ऋषि महर्षियोंकी मान मर्यादाका जरा भी ध्यान नहिं रखते। वे यह नहिं जानते कि आत्माकी उन्नतिमें जैसे भारतवर्षके ऋषियोंने उन्नतिकी है वैसी किसी ने भी नहिंकी पाश्चत्यविद्वानोंने इन्हीं महर्षियोंके वाक्योंका अपनी पुस्कोंमें उलथा किया है। पाश्चात्यविद्वान चाहें इससमय कई अंशों में भारतवासियोंसे बढ़ जाय और बढ़ गये हों परंतु आत्मोन्नतिमें वे भारतके महर्षियोंकी कभी तुलना नहिं करसकते। जिन महानुभावोंने इंग्रेजी पुस्तकोंका उलथाकर आत्माके स्वरूपको समझानेकी कोशिश की है हमारी दृष्टिमें इन आर्ष

गृंथोंके सामने वह सर्वथा अयोग्य है। इन गृंथोंमें जो आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है उसके शतांश भी पाश्चात्य विद्वानोंके आत्मस्वरूपका वर्णन तुलना नहिं कर सकता यदि यह बात हमारी मिथ्या हो अथवा हमारे वचन असह्य हों तो वे महानुभाव इस गृंथको सामने रखकर निर्णय करलें।

इस गृंथके कर्ता मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसंघके आचार्य और भट्टरक सकलकीर्तिके शिष्यभुवनकीर्तिके शिष्य थे क्योंकि इसी गृंथमें—

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेऽग्रणी—

स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत्।

विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रत—

स्तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः॥ अ. १८ श्लो. ॥ २१ ॥

अर्थात्—मूलसंघके आचार्योंमें-अग्रणी सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलकीर्ति हुये उनके पट्टरूपी उदयाचलपर सूर्यके समान भव्यरूपी कमलोंको आनंद प्रदान करनेवाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुये उन्हींके चरणकमलोंका भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूं जिसने कि इस तत्त्वज्ञानतरंगिणी ग्रंथका निर्माण किया है।

इस श्लोकसे इन्होंने इस वातका स्पष्ट उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचंद्र जो सोलहवी शताब्दीमें होगये हैं उनके गुरु विजयकीर्तिके ये गुरु थे।

ये आचार्यवर्य विक्रम संवत्‌की पंद्रह सौ साठवीं वर्षमें विद्यमान थे और उससमय इस गृंथका इन्होंने निर्माण किया था क्योंकि इसी गृंथमें—

यदैव विक्रमातीताः, शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टि .संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥ अ. १८ श्लोक

अर्थात् जिससमय विक्रम संवत्के पंद्रहसौ साठ वर्ष वीत् चुके थे उससमय इस तत्वज्ञानतरंगिणी ग्रंथकानिर्माण किया। इस श्लोकसे इन्होंने यह बात बतलाई है। बस इनकी जीवनीकी इन दो बातोंके अर्थात् पट्ट और स्थितिकालके सिवाय अपने जीवनमें इन्होंने कितने ग्रन्थोंका निर्माण किया और अन्य क्या क्या अद्भुत कार्य किये यह कुछ भी वृत्त ज्ञात नहिं हुआ ।

इस ग्रन्थका अनुवाद हमने तीन प्रतियोंसे किया है जिससमय हमारे पास पहिली प्रति आई तो उसकी अशुद्धता देखकर हमारा साहस इसके अनुवाद करनेका न हुआ पश्चात् हमें दो प्रतियां और मिलीं और उनसे हमने इसका अनुवाद पूरा किया ।

ऐसे अश्रुतपूर्व ग्रंथकी सब भंडारोंमें प्रतियां मिलनी असंभव हैं इसलिये बड़ी कठिनतासे हमें इसकी प्रतियां मिलीं हमें उक्त तीनों प्रतियोंमेंसे एक शुद्ध प्रतिकी सहायता प्रदान करनेवाले महानुभाव बाबू सुंदरलालजी वैनाड़ा हैं आपने इस ग्रंथके कुछ अंशका अनुवाद भी किया था परंतु कार्यवश वह पूरा न हो सका जिससमय हमने बाबूसाहबसे इस ग्रंथकी प्रार्थनाकी तो शीघ्र ही इन्होंने इसकी प्रति भेज दी जो कि अतिशय प्राचीन और कहीं कहींपर टिप्पणीसे भी युक्त थी और जिससे हमें अनुवादमें पूर्ण सहायता मिली इतना ही नहीं बल्कि बाबूसाहबने अपना किया हुआ अनुवाद भी भेजदिया इसलिये उक्त बाबू साहबके हम पूर्ण आभारी हैं आशा है अन्य महाशय भी इसीप्रकार उत्तमोत्तम ग्रंथ भेजकर संस्थाकी सहायता करेंगे ।

भूलसंशोधन ।

छठा अध्याय पृष्ठ ७१ श्लोक नंबर २ अंतिम पंक्तिमें 'मोहरूपी धूर्तोंने' 'इसवाक्यको अपना सेवक बना लिया है' इस के पहिले पढना चाहिये।

सोलहवां अध्याय पृष्ठ १८६ श्लोक नं० २ पंक्ति छठी 'प्रस्तारोंके संबंधसे छंद उत्पन्न होता है' इस स्थानपर, छंदोंके संबंधसे प्रस्तार उत्पन्न होते हैं यह पढ़ना चाहिये।

विशेष

इसग्रंथके अनुवादमें बहुतसी त्रुटियां रहगईं होंगी विज्ञ पाठक त्रुटियोंपर विशेष ध्यान न देकर ग्रंथके तत्त्वकी ओर ही झुकें ऐसी प्रार्थना है।

कलकत्ता।
फाल्गुण वदी ४
वी. २४४२

वशंवद
गजाधरलाल।

अध्यायसूचिका ।



स्वस्ति श्री१०८ वीरसेन स्वामी भट्टारक
संस्थान-कारंजा।



सनातनजैनग्रंथमाला

१४

भट्टारक-श्रीज्ञानभूषणविरचिता

तत्त्वज्ञानतरंगिणी ।

प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं सानंदं जगदुत्तमं ।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थी तस्य लब्धये ॥ १ ॥

अर्थ—निराकुलतारूप अनुपम आनंद भोगने वाले, समस्तजगतमें उत्तम, शुद्ध चैतन्य स्वरूपको नमस्कार

कर उसकी प्राप्तिका अभिलाषी, मैं (ग्रंथकार) उसके लक्षण आदिका प्रतिपादन करता हूं। भावार्थ—इस श्लोकमें शुद्धचिद्रूप विशेष्य और सानंद एवं जगदुत्तम उसके विशेषण हैं। यहांपर शुद्ध आत्माकी जगह 'शुद्धचिद्रूप' ऐसा कहनेसे यह आशय प्रगट किया है कि ज्ञान आदि रूप चेतना और आत्मा जुदे पदार्थ नहीं-ज्ञान आदि रूप ही आत्मा है। अनेक महाशय आत्माको आनंदस्वरूप नहि मानते-उससे आनंदको जुदा मानते हैं इसलिये उनके समझानेके लिये 'सानंद' पद कहा है अर्थात् आत्मा आनंदस्वरूप है। नास्तिक आदि शुद्ध चिद्रूपको मानते नहीं और उनकी दृष्टिमें वह उत्तम भी नहिं जचता इसलिये उनके बोधनार्थ यहां 'जगदुत्तम' पद दिया है अर्थात् लोकके समस्त पदार्थोंमें शुद्धचिद्रूप ही उत्तम है॥ १॥

पश्यत्यवैति विश्वं युगपन्नोकर्मकर्मणामणुभिः।
अखिलैर्मुक्तो योऽसौ विज्ञेयः शुद्धचिद्रूपः॥ २॥

अर्थ—जो समस्त जगतको एक साथ देखने जाननेवाला है। नोकर्म और कर्मके परमाणु-(वर्गणाओं) ओंसे रहित है वही शुद्धचिद्रूप है। भावार्थ-कार्माणजातिकी पुद्गलवर्गणायें लोकाकाशमें सर्वत्र भरी हुई हैं और तेल आदिकी चिकनाईसे युक्त पदार्थपर जिसप्रकार पवनसे प्रेरे धूलिके रेणु आकर लिपट जाते हैं उसीप्रकार स्फटिकपाषाणके समान निर्मल भी, राग द्वेषरूपी चिकनाईसे युक्त आत्माके साथ कार्माणजातिकी वर्गणायें संबद्ध हो-

जाती हैं और इसके ज्ञान दर्शन आदि स्वभावोंको ढक देतीं हैं। परंतु जो समस्त नोकर्म और कर्मोंकी वर्गणाओंसे रहित है और विरोधीकर्म (केवल) दर्शनावरण एवं (केवल) ज्ञानावरणका नाशकर अपने अखंड दर्शन और अखंड ज्ञानसे समस्त लोकको एकसाथ देखने जाननेवाला है उसीका नाम शुद्धचिद्रूप है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर एवं आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भापा और मन इन छ पर्याप्तियोंके योग्य कर्म-पुद्गल, नोकर्म हैं और ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्म कहे जाते हैं ॥ २ ॥

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित हैं उन्हें उसीरूपसे एक साथ जानने देखनेवाला, आकुलतारहित और समस्त गुणोंका भंडार शुद्ध चिद्रूप कहाजाता है। यहां इतना विशेष है कि पहिले श्लोकसे सिद्धोंको शुद्ध चिद्रूप कहा है और इस श्लोकसे अर्हंत भी शुद्धचिद्रूप हैं यह बात बतलाई है ॥ ३ ॥

स्पर्शरसगंधवर्णैः शब्दैर्मुक्तो निरंजनः स्वात्मा ।
तेन च खैरग्राह्योऽसावनुभावनागृहीतव्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह स्वात्मा स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दोंसे रहित है। निरंजन है। इसलिये किसी इंद्रिय द्वारा गृहीत न होकर अनुभावनासे-स्वानुभव प्रत्यक्षसे इसका ग्रहण होता है। भावार्थ—जिसपदार्थमें स्पर्श रस आदि गुण होते हैं उसका ही प्रत्यक्ष स्पर्शन आदि इद्रियोंसे होता है अन्यका नहीं इस स्वात्मा शुद्ध आत्मामें कोई स्पर्श आदि हैं नहीं इसलिये स्पर्शके अभावसे इसै स्पर्शन इंद्रियसे, रसके अभावसे रसना इंद्रियसे, गंधके अभावसे घ्राण इंद्रियसे, वर्णके अभावसे चक्षुरिंद्रियसे, और शब्दके अभावसे श्रोत्र इद्रियसे नहिं जान सकते। किंतु केवल 'अहं अहं' इस अंतर्मुखाकार प्रत्यक्षसे इसका ज्ञान होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ ४ ॥

सप्तानां धातूनां पिंडो देहो विचेतनो हेयः।
तन्मध्यस्थोऽवैतीक्षतेऽखिलं यो हि सोहं चित् ॥ ५ ॥
आजन्म यदनुभूतं तत्सर्वं यः स्मरन्न विजानाति।
कररेखावत् पश्याति सोऽहं बद्धोऽपि कर्मणाऽत्यंतं ॥ ६ ॥
श्रुतमागमात् त्रिलोकत्रिकालजं चेतनेतरं वस्तु।
यः पश्यति जानाति च सोऽहं चिद्रूपलक्षणो नान्यः॥ ७ ॥

अर्थ—यह शरीर शुक्र रक्त मज्जा आदि सात धातुओंका समुदायस्वरूप है। चेतनाशक्तिसे रहित और त्यागने योग्य है, एवं जो इसके भीतर समस्त पदर्थोंको देखने जानने वाला है वह मैं आत्मा हूं ॥ ५ ॥ जन्मसे लेकर आजतक जो पदार्थ अनुभवे हैं उन सबको स्मरण कर हाथकी रेखाओंके समान जो जानता देखता है वह ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे कड़ी रीतिसे जिकड़ा हुआ भी मैं वास्तवमें शुद्धचिद्रूप ही हूं ॥ ६ ॥ तीनों लोक और तीनों कालोंमें विद्यमान चेतन और जड़ पदार्थोंको आगमसे श्रवणकर जो देखता जानता है वह चैतन्यरूप लक्षणका धारक मैं स्वात्मा हूं। मुझ सरीखा अन्य कोई नहिं हो सकता। इन श्लोकोंसे आचार्य उपाध्याय और सामान्य मुनियोंका भी शुद्धचिद्रूप पदसे ग्रहण किया है ॥ ७ ॥ स्वयं ग्रंथकार भी शुद्धचिद्रूप पदसे किन २ का ग्रहण है इस बातको दिखाते हैं—

शुद्धचिद्रूप इत्युक्ते ज्ञेयाः पंचार्हदादयः ।
अन्येऽपि तादृशाः शुद्धशब्दस्य वहुभेदतः ॥ ८ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप पदसे यहांपर अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और सर्व साधु इन पांचो परमेष्ठियोंका ग्रहण है तथा इनके समान अन्य शुद्धात्मा भी शुद्धचिद्रूप शब्दसे लिये हैं क्योंकि शुद्ध शब्दके बहुतसे भेद हैं। भावार्थ—यदि शुद्ध निश्चयनयसे कहा जाय तो सिद्धपरमेष्ठी ही शुद्धचिद्रूप हो सकते हैं परंतु यहांपर भाविनैगमनयसे

मुनि आदिको भी शुद्धचिद्रूप माना है क्योंकि आगे ये भी सिद्ध स्वरूपको प्राप्त करेंगे ॥ ८॥

नो दृक् नो धीर्न वृत्तं न तप इह यतो नैव सौख्यं न शक्ति-
र्नादोषो नो गुणीतो न परमपुरुषः शुद्धचिद्रूपतश्च ।
नोपादेयोप्यहेयो न न पररहितो ध्येयरूपो न पूज्यो
नान्योत्कृष्टश्च तस्मात्प्रतिसमयमहं तत्स्वरूपं स्मरामि ॥ ९ ॥

अर्थ—यह शुद्ध चिद्रूप ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। तप सुख शक्ति और दोषोंका अभाव स्वरूप है। गुणवान और परम पुरुष है। उपादेय-ग्रहण करने योग्य और अहेय (न त्यागने योग्य) है। पर परिणतिसे रहित ध्यान करने योग्य है। पूज्य और सर्वोत्कृष्ट है। किंतु शुद्ध चिद्रूपसे भिन्न सम्यग्दर्शन आदि कोई पदार्थ नहीं इसलिये प्रतिसमय मैं उसीका स्मरण मनन करता हूं। भावार्थ—संसारमें जीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तप सुख आदि पदार्थोंको हितकारी और उत्तम मनते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे ये सब आपसे आप आकर प्राप्त होजाते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध चिद्रूपसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं इसलिये जिन महानुभावोंको सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंके पानेकी अभिलाषा है उन्हैं चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपका ही स्मरण मनन ध्यान करै ॥९॥

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः ।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः ॥ १० ॥

अर्थ—यद्यपि यह चिद्रूप, ज्ञेय–ज्ञानका विषय दृश्य–दर्शनका विषय है तथापि स्वभावसे ही यह पदार्थोंका जानने और देखनेवाला है परंतु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ज्ञेय और दृश्य होनेपर जानने देखनेवाला हो इसलिये यह चिद्रूप समस्त द्रव्योंमें उत्तम है। भावार्थ—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालके भेदसे द्रव्य छै प्रकारके हैं उन सवमें जीवद्रव्य सब द्रव्योंमें उत्तम है क्योंकि दूसरोंसे जाना देखा जाने पर भी यह ज्ञाता और दृष्टा है परंतु इससे अन्य सब द्रव्य जड़ हैं इसलिये वे ज्ञान और दर्शनके ही विषय हैं अन्य किसी पदार्थको देखते जानते नहीं ॥ १० ॥

स्मृतेः पर्यायाणामवनिजलभृतामिंद्रियार्थागसां च
त्रिकालानां स्वान्योदितवचनततेः शब्दशास्त्रादिकानां ।
सुतीर्थानामस्त्रप्रमुखकृतरुजां क्ष्मारुहाणां गुणानां
विनिश्चेयः स्वात्मा सुविमलमतिभिर्दृष्टबोधस्वरूपः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि विमल है-स्व और परका विवेक रखनेवाली है उन्हें चाहिये कि वे दर्शन ज्ञान स्वरूप अपनी आत्माको-बाल कुमार युवा आदि अवस्थाओं और क्रोधा मान माया आदि पर्यायोंके स्मरणसे, पर्वत और समुद्रके ज्ञानसे,रूप रस गंध आदि इद्रियोंके विषय और अपने अपराधोंके स्मरणसे, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंके ज्ञानसे, अपने पराये वचनोंके स्मरणसे, व्याकरण न्याय आदि शास्त्रोंके मनन ध्यानसे, निर्वाणभूमियोंके देखने जाननेसे, शस्त्र आदिसे उत्पन्न हुये घावोंके ज्ञानसे, भांति २ के वृक्षोंकी पहिचानसे और भिन्न २ पदार्थोंके भिन्न २ गुणोंके ज्ञानसे, पहिचाने । भावार्थ—जो पदार्थ ज्ञानशून्य जड़ हैं उनके अंदर यह सामर्थ्य नहीं कि वे बाल कुमार वृद्ध आदि अवस्था, क्रोध मान माया आदि पर्याय, पर्वत, समुद्र रूप आदि इंद्रियोंके विषय, अपने पराये अपराध, तीन काल, अपने परके वचन, न्याय व्याकरण आदि शास्त्र, निर्वाणभूमि, घाव आदिका दुःख, भांति २ के वृक्ष और पदार्थोंके भिन्न २ गुण जान सकें, उन्हें तो दर्शन ज्ञान स्वरूप आत्मा ही जान सकता है इसलिये पर्याय आदिके स्मरण ज्ञानको रखनेवाले आत्माको अन्य पदार्थोंसे जुदाकर पहिचान लेना चाहिये ॥ ११ ॥

ज्ञप्त्या दृक् चिदिति ज्ञेया सा रूपं यस्य वर्त्तते ।
स तथोक्तोऽन्यद्रव्येण मुक्तत्वात्, शुद्ध इत्यसौ ॥ १२ ॥
कथ्यते स्वर्णवत् तज्ज्ञैः सोहं नान्योस्मि निश्चयात् ।

शुद्धचिद्रूपोऽहमिति षड्वर्णार्थो निरुच्यते ॥ १३ ॥ युग्म ॥

कर्थ—ज्ञान और दर्शनका नाम चित् है। जिसके यह विद्यमान हो वह चिद्रूप—आत्मा कहा जाता है तथा जिसप्रकार कीट कालिमा आदि अन्य द्रव्योंसे रहित सुवर्ण शुद्धसुवर्ण कहलाता है उसी प्रकार जिससमय यह चिद्रूप समस्त परद्रव्योंसे रहित होजाता है उससमय शुद्धचिद्रूप कहाजाता है वही शुद्ध चिद्रूप निश्चयसे मैं हूं इसप्रकार "शुद्धचिद्रूपोऽहं" इन छै वर्णोंका परिष्कृत अर्थ समझना चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार सुवर्णके चाकचिक्य पीतता आदि गुण धारण करनेवाला सुवर्ण कहा जाता है और अग्निसे तपाने पर जब कीट कालिमादि परपदार्थ उससे जुदे होजाते हैं तब वह शुद्धसुवर्ण कहलाता है उसीप्रकार जिसमें ज्ञान दर्शन रूप चित् शक्ति हो वह चिद्रूप है और जो समस्त कर्म आदि परद्रव्योंसे रहित होगया हो किं वा 'अपनी आत्माको परद्रव्योंसे रहित मानने वाला हो' उसै शुद्धचिद्रूप समझना चाहिये और वैसा शुद्धचिद्रूप म हूं ऐसा विचारना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

दृष्टैर्ज्ञातैः श्रुतैर्वा विहितपरिचितैर्निंदितैः संस्तुतैश्च
नीतः संस्कारकोटिं कथमपि विकृतिं नाशनं संभवं वै ॥

स्थूलैः सूक्ष्मैरजीवैरसुनिकरयुतैः खाप्रियैः खप्रियैस्तै-
रन्यैर्द्रव्यैर्न साध्यं किमपि मम चिदानंदरूपस्य नित्यं ॥ १४ ॥

अर्थ—मेरा आत्मा चिदानंद स्वरूप है मुझे परद्रव्योंसे चाहें वे देखे हों, जाने हों, परिचयमें आये हों, बुरे हों, भले हों, भलेप्रकारं संस्कृत हों, विकृत हों, नष्ट हों, उत्पन्न हों, स्थूल हों, सूक्ष्म हों, जड़ हों, चेतन हों, इंद्रियोंको प्रिय हों, वा अप्रिय हों, कोई प्रयोजन नहीं। भावार्थ–जब तक मुझे अपने चिदानंदस्वरूपका ज्ञान न था तब तक मैं वाह्य पदार्थोंमें लिप्त था-उन्हें ही अपना समझता था तथा दृष्ट श्रुत अनुभूत भले बुरे प्रिय अप्रिय आदि मान कर, हर्ष विषाद करने लगता था परंतु जब मुझे आत्मिक चिदानंद स्वरूपका भान हुआ तब मुझे स्पष्ट जान पड़ा कि परपदार्थोंसे मेरा किसीप्रकारका उपकार नहिं हो सकता इसलिये इनसे तनिक भी प्रयोजन नहिं सध सकता ॥१४॥

विक्रियाभिरशेषाभिरंगकर्मप्रसूतिभिः।
मुक्तो योऽसौ चिदानंदो युक्तोऽनंतदृगादिभिः ॥ १५ ॥

अर्थ–यह चिदानंद, शरीर और कर्मोंके समस्त विकारोंसे रहित है और अनंत दर्शन अनंत ज्ञान आदि आत्मिक गुणोंसे संयुक्त है। भावार्थ–अंग और कर्म जड़ हैं। वे चिदानंद स्वरूप आत्माको किसीप्रकार विकृत नहिं बना

सकते इसलिये यह चिदानंद स्वरूप आत्मा उनके विकारोंसे सर्वथा विमुक्त है तथा अनंतदर्शन अनंतज्ञान आदि जो इसके निजस्वरूप हैं उनसे सर्वदा भूषित है ॥ १५ ॥

असावनेकरूपोऽपि स्वभावादेकरूपभाग् ।
अगम्यो मोहिनां शीघ्रगम्यो निर्मोहिनां विदां ॥ १६ ॥

अर्थ—यद्यपि यह चिदानंद स्वरूप आत्मा, अनेक स्वरूप है तथापि स्वभावसे यह एकही स्वरूप है, जो मूढ हैं-मोहकी शृंखलासे जिकड़े हुये हैं वे इसका जरा भी पता नहिं लगासकते परंतु जिन्होंने मोहको सर्वथा नष्ट कर दिया है वे इसका बहुत जल्दी पता लगालेते हैं। भावार्थ—आत्मा अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य आदि अनंत गुणोंका भंडार है इसलिये इसै अनंतज्ञानस्वरूप अनंत दर्शनस्वरूप अनंतसुखस्वरूप आदि कहते हैं परंतु वास्तवमें यह एकस्वरूप–चेतनस्वरूप ही है जो मनुष्य मोहके नशेमें मत्त हैं–परद्रव्योंको अपना मान सदा उनमें अनुरक्त रहते हैं वे रत्ती भर भी इस चिदानंद स्वरूप आत्माका पता नहिं पासकते किंतु जो मोहसे सर्वथा रहित हैं-परपदार्थोंको जरा भी नहिं अपनाते वे बहुत ही जल्दी इसके स्वरूपका आस्वाद करलेते हैं ॥ १६ ॥

चिद्रूपोऽयमनाद्यंतः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।

कर्मणाऽस्ति युतोऽशुद्धः शुद्धः कर्मविमोचनात् ॥ १७ ॥

अर्थ—यह चिदानंद स्वरूप आत्मा, अनादि अनंत है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्था स्वरूप है। जबतक कर्मोंसे युक्त बना रहता है तबतक अशुद्ध और जिससमय कर्मोंसे सर्वथा रहित हो जाता है उससमय शुद्ध होजाता है। भावार्थ–यह चिदानद स्वरूप आत्मा कब हुआ और कब नष्ट होगा ऐसा नहि कहसकते इस-लिये अनादि अनंत हैं कभी इसकी घटज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती है और कभी वह नष्ट होती है तथा इसका चेतना स्वरूप सदा विद्यमान रहता है इसलिये यह उत्पाद व्यय आर ध्रौव्य तीनों अवस्थाओंका धारक है और जबतक यह कर्मोंके जालमें फंसा रहता है तब तक तो अशुद्ध रहता है और कर्मोंसे सर्वथा जुदा होतेही शुद्ध होजाता है ॥ १७ ॥

शून्याशून्यस्थूलसूक्ष्मोस्तिनास्तिनित्याऽनित्याऽमूर्त्तिमूर्त्तित्वमुख्यैः।
धर्मैर्युक्तोऽप्यन्यद्रव्यैर्विमुक्तः चिद्रूपोयं मानसे मे सदास्तु ॥ १८ ॥

अर्थ—यह चैतन्यस्वरूप आत्मा शून्यत्व, अशून्यत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनि-त्यत्व, अमूर्तित्व, मूर्तित्व, आदि अनेक धर्मोंसे संयुक्त है और परद्रव्योंके संबंधसे वियुक्त है इसलिये ऐसा चिद्रूप सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहो। भावार्थ–यह चित्स्वरूप आत्मा निश्चयनयसे कर्मोंसे सर्वथा रहित है इसलिये शून्य

है, व्यवहार नयसे कर्मोंसे संबद्ध है इसलिये अशून्य भी है। स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा अस्ति स्वरूप है परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप है। स्वस्वरूपसे सदा विद्यमान रहता है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है और प्रतिसमय इसके ज्ञान दर्शन आदि गुणोंमें परिणमन हुआ करता है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य भी है। कर्मोंसे नीर क्षीरकी ज्यों एकम एक है इस लिये कथंचित् मूर्त्त भी है और निश्चयनयसे कर्मोंसे सदा जुदा है इसलिये कथंचित् अमूर्त भी है। इसीप्रकार वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि भी गुण इसके अंदर विराजमान हैं और शरीर आदि बाह्य द्रव्योंसे यह सर्वथा रहित है ॥ १८ ॥

ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं नच विशदमतेः श्रेयमादेयमन्यत्।
श्रीमत्सर्वज्ञवाणीजलनिधिमथनात् शुद्धचिद्रूपरत्नं
यस्माल्लब्धं मयाहो कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वं प्रियं च ॥ १९ ॥

अर्थ—भगवान सर्वज्ञकी वाणीरूपी समुद्रके मथन करनेसे मैंने बड़े भाग्यसे शुद्ध चिद्रूपरूपी रत्न प्राप्त कर-लिया है और मेरी बुद्धि परपदार्थोंको निज न माननेसे स्वच्छ हो चुकी है इसलिये अब मेरे लिये संसारमें कोई पदार्थ न जानने लायक रहा और न देखने योग्य, ढूंढने योग्य, कहने योग्य, ध्यान करने योग्य, सुनने योग्य, प्राप्त

करने योग्य, आश्रयकरने योग्य और ग्रहण करने योग्य ही रहा, क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप अप्राप्तपूर्व—पहिले कभी भी प्राप्त न हुआ था ऐसा है और अतिप्रिय है। भावार्थ—संसारमें अन्य समस्त पदार्थ प्राप्त करलिये अभीतक केवल शुद्धचिद्रूप पदार्थ नहिं पाया था और उसके अभावमें परपदार्थोंको आत्मिक मानकर बुद्धि भी मलिन हो रही थी परंतु भगवान जिनेंद्रके उपदेशसे आज मुझे शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति होगई है परपदार्थ कभी मेरे हितकारी नहिं बन सकते ऐसा निश्चय होनेसे मेरी बुद्धि भी निर्मल है इसलिये संसारमें मेरेलिये जानने देखने ढूंढने आदिके योग्य कोई पदार्थ न रहा शुद्धचिद्रूपके लाभसे मैने सबको जान लिया देखलिया और सुन आदि लिया ॥१९॥

शुद्धश्चिद्रूपरूपोहमिति मम दधे मंक्षु चिद्रूपरूपं
चिद्रूपेणैव नित्यं सकलमलभिदा तेन चिद्रूपकाय।
चिद्रूपाद् भूरिसौख्यात् जगति वरतरात्तस्य चिद्रूपकस्य
माहात्म्यं वेत्ति नान्यो विमलगुणगणे जातु चिद्रूपकेऽज्ञात्॥ २० ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां
शुद्धचिद्रूपलक्षणप्रातिपादकः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अर्थ—शुद्धचित्स्वरूपी मैं समस्तदोषोंके दूर करनेवाले चित्स्वरूपके द्वारा चिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये सौख्यके भंडार और परम पावन चिद्रूपसे अपने चिद्रूपको धारण करता हूं मुझसे भिन्न अन्य मनुष्य उसके विषयमें अज्ञानी है इसलिये वह चित्स्वरूपका भलेप्रकार ज्ञान नहि रखसकता और ज्ञानके न रखनेसे उसके माहात्म्यको न जानकर उसे धारण भी नहि करसकता। भावार्थ—जो मनुष्य जिस बातको जानता है वही उसकी प्राप्तिकेलिये उद्योग और उसे प्राप्त करसक्ता है अज्ञानी मनुष्य अज्ञात पदार्थकी प्राप्तिकेलिये न उद्योग करसकता है और न उसै धारणही कर सकता है। मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं ऐसा चिद्रूपका मुझै ज्ञान है और उसके माहात्म्यको भी भलेप्रकार समझता हूं इसलिये उसके द्वारा उससे उसकी प्राप्तिके लिये मैं उसै धारण करता हूं किंतु जो मनुष्य चिद्रूपका ज्ञान नहिं रखता और चिद्रूपके माहात्म्यको भी नहिं जानता वह उसै धारण भी नहिं करसकता॥२०॥

इसप्रकार मोक्षप्राप्तिके अभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें शुद्धचिद्रूपका लक्षणप्रतिपादन करनेवाला पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय।

मृत्पिंडेन विना घटो न न पटस्तंतून् विना जायते

धातुर्नैव विना दलं न शकटः काष्ठं विना कुत्रचित् ।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न वीजं विना
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुनेर्मोक्षस्तथा नैव च ॥ १ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अन्य सामान्य कारणोंके रहनेपर भी असाधारण कारण मिट्टीके पिंडके विना घट नहिं वन सकता, तंतुओंके विना पट, खंदक (जिस जगह गेरु आदि उत्पन्न होते हैं) के विना गेरु आदि धातु, काठके विना गाड़ी और वीजके विना धान्य नहि हो सकता उसीप्रकार जो मुनि मोक्षके अभिलाषी हैं–मोक्ष स्थान प्राप्त करना चाहते हैं वे भी विना शुद्ध चिद्रूपके स्मरणके उसे नहिं पासकते । भावार्थ–मूलमें साधारण कारणोंकी मौजूदगी होनेपर भी यदि असाधारण कारण न हों तो कदापि कार्य नहि हो सकता । घटकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण मृत्पिंड, पटकी उत्पत्तिमें तंतु, धातुकी उत्पत्तिमें खंदक, गाड़ीकी उत्पत्तिमें काष्ठ और धान्यकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण वीज है तो जिसप्रकार मृत्पिंड आदिके विना घट आदि नहिं वन सकते उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्तिमें असाधारण कारण शुद्ध आत्माका स्मरण है इसलिये अन्य हजारों सामान्य कारणोंके जुटाने पर भी विना शुद्धचिद्रूपके स्मरणके मोक्षप्राप्ति भी कदापि नहि हो सकती इसलिये मोक्षप्राप्तिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे अवश्य शुद्धात्माका स्मरण करें ॥ १ ॥

वीजं मोक्षतरोर्भवार्णवतरी दुःखाटवीपावको
दुर्गं कर्मभियां विकल्परजसां वात्यागसां रोधनं।
शस्त्रं मोहजये नृणामशुभतापर्यायरोगौषधं
चिद्रूपस्मरणं समस्ति च तपोविद्यागुणानां गृहं॥ २॥

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूपका स्मरण मोक्षरूपी वृक्षका कारण है। संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये नाव है। दुःखरूपी भयंकर वनकेलिये दावानल है। कर्मोंसे भीत मनुष्योंकेलिये सुरक्षित सुदृढ़ किला है। विकल्परूपी रजके उड़ानेके लिये पवनका समूह है। पापोंका रोकनेवाला है। नरक आदि अशुभपर्यायरूपी रोगोंके नाश करनेकेलिये उत्तम अन्यर्थ औषध है एवं तप विद्या और अनेक गुणोंका घर है। भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करनेवाला है वह मोक्ष प्राप्त करलेता है, संसारको पार करलेता है, समस्त दुःखोंको दूर करदेता है, कर्मोंके भयसे रहित हो जाता है, विकल्प और पापोंका नाश करदेता है, मोहको जीत लेता है, नरक आदि पर्यायोंसे सर्वदाके लिये छूट जाता है और अनेक तप विद्या आदि गुणोंकी भी प्राप्ति करलेता है इसलिये शुद्धचिद्रूपका अवश्य स्मरण करना चाहिये॥ २॥

क्षुत्तृड्रुग्वातशीतातपजलवचसः शस्त्रराजादिभीभ्यो
भार्यापुत्रारिनैःस्वानलनिगडगवाद्यश्वरैकंटकेभ्यः ।
संयोगायोगदंशिप्रपतनरजसो मानभंगादिकेभ्यो
जातं दुःखं न विद्मः क्व च पटति नृणां शुद्धचिद्रूपभाजां ॥ ३ ॥

अर्थ—संसारमें जीवोंको क्षुधा तृपा रोग वात ठंडी उष्णता जल कठोरवचन शस्त्र राजा स्त्री पुत्र शत्रु निर्धनता अग्नि वेड़ी गौ भैंस घोड़े धन कंटक संयोग वियोग डांस मच्छर पतन धूलि मानभंग आदिसे उत्पन्न हुये अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु न मालूम जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपके स्मरण करने-वाले हैं उनके वे दुःख कहां विलीन हो जातेहैं ? । भावार्थ–जो महानुभाव शुद्धात्माका स्मरण करनेवाले हैं उन्हें भूंख नहि सताती, प्यास दुःख नहि देती, रोग नहिं होता, वात नहिं सताती, ठंडी नहिं लगती, उष्णता व्याकुल नहिं करती, जलका उपद्रव नहिं होता, क्रूर मनुष्योंद्वारा कहे हुये दुष्ट वचन दुःख नहिं पहुंचाते, राजा आदि दंड नहि दे सकता, दुष्ट स्त्री पुत्र शत्रुओंसे उत्पन्न हुआ दुःख नहि भोगना पडता, निर्धनता–दरिद्रता नहि होती अग्निका उपद्रव नहि सहन करना पड़ता, वधनमें नहि वंधना पड़ता, गौ और अश्व आदिसे

पीड़ा नहि होती, धनकी चोरीसे दुःख नहि होता, कांटे दुःख नहि देते, अनिष्ट पदार्थोंका संयोग नहिं होता, इष्ट पदार्थ वियुक्त नहिं होते, डांस मच्छर दुःख नहिं दे सकते, पतन नहि हो सकता, तथा धूलि और मानभंग-का भी कष्ट नहिं भोगना पड़ता इसलिये शुद्धचिद्रूपका स्मरण परम सुख देनेवाला है ॥ ३ ॥

स कोपि परमानंदश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥ ४ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे वह एक अद्वितीय और अपूर्व ही आनंद होता है कि जिसका अंश भी तीन जगतके स्वामी इन्द्र आदिको प्राप्त नहिं हो सकता । भावार्थ—इंद्र नरेंद्र और धरणेंद्र यद्यपि सर्वोत्तम विषय-सुखका भोग करते हैं परंतु वह सुख, सुख नहिं कहलाता क्योंकि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे उत्पन्न हुये आत्मिक नित्य सुखकी, वह अनित्य तथा परपदार्थोंसे जन्य होनेसे अंश मात्र भी तुलना नहिं कर सकता ॥ ४ ॥

सौख्यं मोहजयोऽशुभास्रवहतिर्नाशोतिदुष्कर्मणा—
मत्यंतं च विशुद्धता नरि भवेदाराधना तात्त्विकी ।
रत्नानां त्रितयं नृजन्मसफलं संसारभीनाशनं

विचार करते रहना चांहिये क्योंकि 'शुद्धचिद्रूपोहं' ये छै अक्षर संसारसे पार करनेवाले समस्त तीर्थोंमें उत्कृष्ट तीर्थ हैं। शास्त्ररूपी समुद्रसे उत्पन्न हुये 'ग्रहण करनेके लायक' उत्तम रत्न हैं। समस्त सुखोंके विशाल खजाने हैं। मोक्ष स्थानमें लेजानेके लिये बहुत जल्दी चलनेवाले वाहन (सवारी) हैं। कर्मरूपी धूलिके उड़ानेके लिये प्रबल पवन हैं और संसाररूपी वनके जलानेके लिये जाज्वल्यमान अग्नि हैं ॥ ७ ॥

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोहंस्मरणे न विद्मः ॥ ८ ॥

अर्थ—हम नहिं कह सकते कि 'शुद्धचिद्रूपोहं' में शुद्धचित्स्वरूप हूं ऐसा स्मरण करते ही शुभ अशुभ कर्म, चेतन अचेतन स्वरूप परिग्रह और राग द्वेष आदि दुर्भाव कहां लापता हो जाते हैं? । भावार्थ—शुद्धचिद्रूपके स्मरण करते ही शुभ अशुभ समस्त कर्म नष्ट होजाते हैं चेतन, अचेतन स्वरूप परिग्रहोंसे भी सर्वथा संबंध छूट जाता है और राग द्वेष आदि महादुष्ट भाव भी एक ओर किनारा कर जाते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे अवश्य इस चिद्रूपका स्मरण ध्यान करैं ॥ ८ ॥

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेंद्रो महान् ।

भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पर्वतोंमें मेरु, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, धातुओंमें सुवर्ण, पीनेयोग्य पदार्थोंमें अमृत, रत्नोंमें चिंतामणि रत्न, ज्ञानोंमें केवलज्ञान, चारित्रोंमें समतारूपचारित्र, आप्तोंमें तीर्थंकर, गायोंमें कामधेनु, मनुष्योंमें चक्रवर्ती और देवोंमें इंद्र महान और उत्तम हैं उसीप्रकार ध्यानोंमें शुद्ध चिद्रूपका ध्यान ही सर्वोत्तम है। भावार्थ—जिसप्रकार अन्यपर्वत मेरुपर्वतकी, अन्यवृक्ष कल्पवृक्षकी, अन्य धातु सुवर्णकी, अन्यपीनेयोग्य पदार्थ अमृतकी, अन्य रत्न आदि पदार्थ चिंतामणि आदिकी तुलना नहिं करसकते उसीप्रकार अन्यपदार्थोंका ध्यान शुद्धात्माके ध्यानके समान नहि हो सकता इसलिये शुद्धचिद्रूपका ध्यान ही सर्वोत्तम और लाभदायक है ॥ ९ ॥

निधानानां प्राप्तिर्न च सुरकुरुरुहां कामधेनोः सुधा-
याश्चिंतारत्नानामसुरसुरनराकाशगेशेंदिराणां।
खभोगानां भोगावनिभवनभुवां चाहमिंद्रादिलक्ष्म्या
न संतोषं कुर्यादिह जगति यथा शुद्धचिद्रूपलब्धिः ॥ १० ॥

अर्थ—यद्यपि अनेक प्रकारके निधान, (खजाने) कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिंतामणि रत्न, सुर असुर नर और विद्याधरोंके स्वामियोंकी लक्ष्मी, भोग भूमियोंमें प्राप्त इंद्रियोंके भोग और अहमिंद्र आदिकी लक्ष्मीकी प्राप्ति भी संसारमें संतोष–सुख प्रदान करनेवाली है परंतु जिसप्रकारका संतोष शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे होता है वैसा इनकिसीसे नहीं होता। भावार्थ–अनेक प्रकारके निधान कल्पवृक्ष आदि पदार्थ संसारमें सर्वथा दुर्लभ हैं-बड़े भाग्यसे मिलते हैं इसलिये इनकी प्राप्तिसे भी अवश्य कुछ न कुछ संतोष होता है परंतु वैसा संतोष नहिं होता जैसा कि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे होता है क्योंकि निधान कल्पवृक्ष आदि अनित्य हैं उनसे थोड़ेकालके लियेही संतोष हो सकता है शुद्धचिद्रूप नित्य है–कभी भी इसका नाश नहिं हो सकता इसलिये इसकी प्राप्तिसे जो सुख होता है वह सदा विद्यमान रहता है ॥ १० ॥

ना दुर्वर्णो विकर्णो गतनयनयुगो वामनः कुब्जको वा
छिन्नघ्राणः कुशब्दो विकलकरयुतो वाग्विहीनोऽपि पंगुः ।
खंजो निःस्वोऽनधीतश्रुत इह बधिरः कुष्ठरोगादियुक्तः
श्लाघ्यः चिद्रूपचिंतापर इतरजनो नैव सुज्ञानवद्भिः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध चिद्रूपकी चिंतामें रत है–सदा शुद्ध चिद्रूपका विचार करता रहता वह चाहें

दुर्वर्ण काला कवरा-बूचा अंधा बोना कुवड़ा नकटा कुशब्द बोलनेवाला हाथरहित-टोंटा गूंगा लूला गंजा दरिद्र मूर्ख बैरा और कोढ़ी आदि कोई भी क्यों न हो विद्वानोंकी दृष्टिमें प्रशंसाके योग्य है सब लोग उसे आदरणीय दृष्टिसे देखते हैं किंतु अन्य सुंदर भी मनुष्य यदि शुद्धचिद्रूपकी चिंतासे विमुख है तो उसे कोई अच्छा नहिं कहता। भावार्थ—चाहै मनुष्य कुरूप और निर्धनी ही क्यों न हो यदि वह गुणी है तो अवश्य उसके गुणोंका आदर सत्कार होता है किंतु रूपवान धनी भी मनुष्य यदि गुणशून्य है तो कोई भी उसका मान नहि करता। कुवड़ा अंधा लंगड़ा आदि होने पर भी यदि कोई पुरुष शुद्धचिद्रूपमें रत है तो वह अवश्य आदरणीय है क्योंकि वह गुणी है और अन्य मनुष्य चाहैं वह सुंदर सुडौल धनवान ही क्यों न हो यदि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे शून्य है तो वह कदापि प्रशंसाके योग्य नहि गिना जाता॥ ११॥

रेणूनां कर्मणः संख्या प्राणिनो वेत्ति केवली।
न वेद्मीति क यांत्येते शुद्धचिद्रूपचिंतने॥ १२॥

अर्थ—आत्माके साथ कितने कर्मकी रेणुओं (वर्गणाओं) का संबंध होता है? इसबातकी सिवाय केवली-के अन्य कोई भी मनुष्य गणना नहि कर सकता परंतु न मालूम शुद्धचिद्रूपकी चिंता करते ही वे अगणित भी कर्मवर्गणायें कहां लापता होजाती हैं। भावार्थ—आत्माके साथ अनंत वर्गणाओंका प्रतिसमय बंध होता रहता है

जिनको कि सिवाय केवलीके अन्य कोई जान देख नहिं सकता परंतु शुद्धचिद्रूपकी भावनासे आत्माके साथ किसी भी कर्मवर्गणाका संबंध नहिं होता ॥ १२ ॥

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू स्मरण करते ही समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले शुद्धचिद्रूपका प्रतिक्षण स्मरण कर क्योंकि शुद्धचिद्रूप और स्वात्मामें कोई भेद नहीं-दोनों एक ही हैं ॥ १३ ॥

उत्तमं स्मरणं शुद्धचिद्रूपोऽहमितिस्मृतेः ।
कदापि क्वापि कस्यापि श्रुतं दृष्टं न केनचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—"मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा स्मरण ही सर्वोत्तम स्मरण माना गया है क्योंकि उससे उत्तम स्मरण कहीं भी किसी भी स्थानपर हुआ न सुना और न देखा। भावार्थ—स्त्री पुत्र आदिका जो स्मरण प्रतिसमय इस जीवको होता हुआ देखा वा सुना गया है उससे भी शुद्धचिद्रूपका स्मरण सर्वोत्तम स्मरण समझना चाहिये ॥ १४ ॥

शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन ।

उत्तमं कापि कस्यापि भूतमस्ति भविष्यति ॥ १५ ॥

अर्थ--शुद्धचिद्रूपके समान उत्तम और ध्येय--ध्यानेयोग्य पदार्थ न कहीं हुआ, न है, न होगा इसलिये शुद्धचिद्रूपका ही ध्यान करना चाहिये ॥ १५ ॥

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाध्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंदमंदिरं ॥ १६ ॥

अर्थ--जो योगी मोक्ष-नित्यानंदरूपी संपत्तिको प्राप्त हुये, होते हैं, और होंगे, उसमें शुद्धचिद्रूपकी आराधना ही कारण है विना शुद्धचिद्रूपकी भलेप्रकार आराधनाके कोई मोक्ष-नित्यानंद नहिं प्राप्त कर सकता क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप ही आनंदका मंदिर है-अद्वितीय नित्य आनंद प्रदान करनेवाला है ॥ १६ ॥

द्वादशांगं ततो वाह्यं श्रुतं जिनवरोदितं ।
उपादेयतया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः ॥ १७ ॥

अर्थ---भगवान जिनेंद्रने अंगप्रविष्ट (द्वादशांग) और अंगवाह्य-दो प्रकारके शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है इन शास्त्रोंमें यद्यपि अनेक पदार्थोंका वर्णन किया है तथापि वे सव हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) शुद्धचिद्रूपको वतलाया है ॥ १७ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानाद् गुणाः सर्वे भवंति च ।
दोषाः सर्वे विनश्यंति शिवसौख्यं च संभवेत् ॥१८॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके भलेप्रकार ध्यान करनेसे समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है । राग द्वेष आदि दोष नष्ट होजाते हैं और निराकुलतारूप मोक्षसुख मिलता है ॥ १८ ॥

चिद्रूपेण च घातिकर्महननाच्छुद्धेन धाम्ना स्थितं
यस्मादत्र हि वीतरागवपुषो नाम्नापि नुत्यापि च ।
तद्बिंबस्य तदोकसो झगिति तत्कारायकस्यापि च
सर्वं गच्छति पापमेति सुकृतं तत्तस्य किं नो भवेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपसे ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतरायरूप घातिया कर्मोंका नाश होजाता है क्योंकि वीतराग-शुद्धचिद्रूपके नाम लेनेसे उनकी स्तुति करनेसे तथा उनकी मूर्ति और मंदिर बनवानेसे ही जब समस्त पाप दूर होजाते हैं और अनेक पुण्योंकी प्राप्ति होती है तब उनके (शुद्धचिद्रूपके) ध्यान करनेसे तो मनुष्यको क्या उत्तम फल प्राप्त न होगा ? अर्थात् शुद्धचिद्रूपका ध्यानी मनुष्य उत्तमसे उत्तम फल प्राप्त कर सकता है ॥ १९ ॥

कोऽसौ गुणोऽस्ति भुवने न भवेत्तदा यो
दोषोऽथवा क इह यस्त्वरितं न गच्छेत् ।
तेषां विचार्य कथयंतु बुधाश्च शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहमिति ये यमिनः स्मरंति ॥ २० ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं-प्रिय विद्वानो ! आप ही विचार कर कहैं जो मुनिगण 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण करनेवाले हैं उन्हें कौनसे तो वे गुण हैं जो प्राप्त नहिं होते और कौनसे वे दोप हैं जो उनके नष्ट नहि होते अर्थात् शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेवालोंको समस्त गुण प्राप्त होजाते हैं और उनके सब दोप दूर होजाते हैं ॥२०॥

तिष्ठंत्वेकत्र सर्वे वरगुणनिकराः सौख्यदानेऽतितृप्ताः
संभूयात्यंतरम्या वरविधिजनिता ज्ञानजायां तुलायां ।
पार्श्वेन्यास्मिन् विशुद्धा ह्युपविशतु वरा केवला चेति शुद्ध-
चिद्रूपोहंस्मृतिर्भो कथमपि विधिना तुल्यतां ते म यांति ॥ २१ ॥

अर्थ—ज्ञानको तराजूकी कल्पनाकर उसके एक पलड़ेमें समस्त उत्तमोत्तम गुण, जो भांति भांतिके सुख प्रदान करनेवाले हैं अत्यंत रम्य और भाग्यसे प्राप्त हुये हैं, इकट्ठेकर रक्खे और दूसरे पलडेमें अतिशय विशुद्ध केवल 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसी स्मृतिको रक्खे तब भी वे गुण शुद्धचिद्रूपकी स्मृतिकी तनिक भी तुलना नहि करसकते। भावार्थ—यद्यपि संसारमें अनेक उत्तमोत्तम गुण हैं और वे भांति भांतिके सुख प्रदान करते हैं तथापि ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर वे शुद्धचिद्रूपकी स्मृतिके बराबर कीमती नहि होसकते—शुद्धचिद्रूपकी स्मृति ही सर्वोत्तम है ॥ २१ ॥

तीर्थतां भूः पदैः स्पृष्टा नाम्ना योऽघचयः क्षयं।
सुरौघो याति दासत्वं शुद्धचिद्रक्तचेतसां ॥ २२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव, शुद्धचिद्रूपके धारक हैं—उसके ध्यानमें अनुरक्त हैं उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई भूमि, तीर्थ 'अनेक मनुष्योंको संसारसे तारनेवाली' होजाती है उनके नामके लेनेसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है और अनेक देव उनके दास हो जाते हैं ॥ २२ ॥

शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोन्योऽन्यस्य चिंतनात्।
लोहं लोहाद् भवेत्पात्रं सौवर्णं च सुवर्णतः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार लोहसे लोहका पात्र और सुवर्णसे सुवर्णका पात्र बनता है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपकी चिंता करनेसे आत्मा शुद्ध और अशुद्ध चिद्रूपके ध्यान करनेसे अशुद्ध होता है। भावार्थ–कारण जैसा होता है कार्य भी उससे वैसा ही पैदा होता है जिसप्रकार लोहपात्रका कारण लोह है इसलिये उससे लोहका पात्र और सुवर्ण पात्रका कारण सुवर्ण है इसलिये उससे सुवर्णका ही पात्र बन सकता है उसीप्रकार आत्माके शुद्ध होनेमें शुद्धचिद्रूपकी चिंता प्रधान कारण है इसलिये उससे आत्मा शुद्ध होता है और अशुद्धचिद्रूपकी चिंतासे अशुद्ध आत्मा होता है क्योंकि आत्माके अशुद्ध होनेमें अशुद्धचिद्रूपकी चिंता कारण है ॥ २३ ॥

मग्ना ये शुद्धचिद्रूपे ज्ञानिनो ज्ञानिनोपि ये ।
प्रमादिनः स्मृतौ तस्य तेपि मग्ना विधेर्वशात् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो शुद्धचिद्रूपके ज्ञाता हैं वे भी उसमें मग्न हैं और जो उसके ज्ञाता होनेपर भी उसके स्मरण करनेमें प्रमाद करनेवाले हैं वे भी उसमें मग्न हैं। अर्थात् स्मृति न होनेपर भी उन्हें शुद्धचिद्रूपका ज्ञान ही आनंद प्रदान करनेवाला है ॥ २४ ॥

सप्तधातुमयं देहं मलमूत्रादिभाजनं ।

पूज्यं कुरु परेषां हि शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥ २५ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्वज्ञानतरंगिण्या

शुद्धचिद्रूपध्यानोत्साहसंपादको द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अर्थ—यह शरीर रक्त वीर्य मज्जा आदि सात धातुस्वरूप है। मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थोंका घर है इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे इस निकृष्ट और अपवित्र शरीरको भी शुद्धचिद्रूपकी चिंतासे दूसरोंके द्वारा पूज्य और पवित्र बनावें। भावार्थ—यह शरीर अपवित्र पदार्थोंसे उत्पन्न और अपवित्र पदार्थोंका घर है इसलिये महा अपवित्र है तथापि शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेसे यह पवित्र होजाता है इसलिये शरीरको पवित्र बनानेके लिये विद्वानोंको अवश्य शुद्धचिद्रूपका ध्यान करना चाहिये ॥ २५ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानका उत्साह प्रदान करनेवाला दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय।

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मंदिरार्चाविधाना–
च्चतुर्धा दानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानतः संयमाच्च ।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधेः क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्
क्रमाच्चिद्रूपाप्तिर्भवति जगति ये वांछकास्तस्य तेषां ॥ १ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें जिनेंद्रका अभिषेक करनेसे, उनकी स्तुति पूजा और जपकरनेसे, मंदिरकी पूजा और उसके निर्माणसे, आहार औषध अभय और शास्त्र—चार प्रकारके दान देनेसे, शास्त्रोंके अध्ययनसे, इंद्रियोंके विजयसे, ध्यानसे, संयमसे, व्रतसे, शीलसे, तीर्थ आदिमें गमन करनेसे और उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके धारनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–यदि वास्तवमें देखा जाय तो शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है परंतु भगवानका अभिषेक उनकी स्तुति और जप आदि भी चिद्रूपकी प्राप्तिमें कारण हैं क्योंकि अभिषेक आदिके करनेसे शुद्धचिद्रूपकी ओर दृष्टि जाती है इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषियोंको अवश्य भगवानके अभिषेक स्तुति आदि करने चाहिये ॥ १ ॥

देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं भदंतं च तदाकृतिं।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुत्वाद् भजते सुधीः ॥ २ ॥

अर्थ—देव शास्त्र गुरु तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रतिमा शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें कारण हैं-विना इनकी पूजा सेवा किये शुद्धचिद्रूपकी ओर ध्यान जाना सर्वथा दुस्साध्य है इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी विद्वान, अवश्य देव आदिकी सेवा उपासना करते हैं ॥ २ ॥

अनिष्टान् खहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत्।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्याने सुधीर्हेतूनहेतुकान् ॥ ३ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके ध्यान करते समय इंद्रिय और मनके अनिष्टभी पदार्थ यदि उसकी प्राप्तिमें कारणस्वरूप पड़ें तो उनका आश्रय करलेना चाहिये और इंद्रिय मनको इष्ट होनेपरभी यदि वे उसकी प्राप्तिमें कारण न पड़ें-बाधक पड़ें तो उन्हें सर्वथा छोड़देना चाहिये। भावार्थ—संसारमें पदार्थ दो प्रकारके हैं इष्ट और अनिष्ट। जो पदार्थ मन और इंद्रियोंको प्रिय हैं वे इष्ट हैं और जो अप्रिय हैं वे अनिष्ट हैं। इनमें, अनिष्ट रहनेपर भी जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें कारण हों उनका अवलंबन करलेना चाहिये और जो इष्ट होनेपर भी उसकी प्राप्तिमें कारण न हों उनका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये क्योंकि उनसे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३ ॥

मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितं
हितं सुधीः प्रयत्नेन द्रव्यादिकचतुष्टयं ॥ ४ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप पदार्थोंमें जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेमें हितकारी न हो उसे छोड़ देना चाहिये और जो उसकी प्राप्तिमें हितकारी हो उसका बड़े प्रयत्नसे आश्रय करना चाहिये। भावार्थ—कोई कोई द्रव्य क्षेत्र काल और भाव (परिणाम) ऐसे आकर उपस्थित होजाते हैं कि शुद्धचिद्रूपके स्मरणमें विघ्नकारक बन जाते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि इसप्रकारके पदार्थोंका सर्वथा त्याग करदें परंतु बहुतसे द्रव्य क्षेत्र आदि शुद्धचिद्रूपके स्मरणमें अनुकूल हितकारी भी होते हैं इसलिये उनका कड़ीरीतिसे आश्रय लें ॥ ४ ॥

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी हैं–हित अहितका पूर्ण ज्ञान रखते हैं वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये अन्य समस्त पदार्थोंमें सर्वथा निस्पृह हो समस्त परिग्रहका त्याग करदेते हैं और एकान्त स्थान पर्वतकी गुफाओंमें जाकर रहते हैं ॥ ५ ॥

स्वल्पकार्यकृतौ चिंता महावज्रायते ध्रुवं ।
मुनीनां शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वतभंजने ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वज्र, पर्वतको चूर्ण चूर्ण करदेता है उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी चिंता करनेवाला है, वह यदि अन्य किसी थोड़ेसे भी कार्यकेलिये जरा भी चिंता कर बैठता है तो शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे सर्वथा विचलित होजाता है। भावार्थ—शुद्धचिद्रूपका ध्यान उसीसमय हो सकता है जिससमय किसी बातकी चिंता हृदयमें स्थान न पावे। यदि शुद्धचिद्रूपके ध्याते समय किसी प्रकारकी चिंता आ उपस्थित हुई तो वह ध्यान नष्ट ही होजाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि शुद्धचिद्रूपके ध्यान करते समय अन्य किसी भी चिंताको अपने हृदयमें जरा भी न फटकने दें ॥ ६

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानभानुरत्यंतनिर्मलः ।
जनसंगतिसंजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूपका ध्यानरूपी सूर्य, महानिर्मल और देदीप्यमान है यदि इसपर स्त्री पुत्र आदिके संसर्गसे उत्पन्न हुये विकल्परूपी मेघका पर्दा पड़जायगा तो यह ढक ही जायगा। भावार्थ—स्त्री पुत्र आदिकी चिंतायें

शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं। चिन्ता होते ही ध्यान सर्वथा उखड़ जाता है इसलिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानीको तनिक भी स्त्री पुत्र आदि संबधी चिंता न करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत् ।
वंध्यायां किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वांझके पुत्र नहिं होता और गधेके सींग नहिं होते उसीप्रकार अभव्यके शुद्धचिद्रूपका ध्यान कदापि नहिं हो सकता। भावार्थ—अभव्यको मोक्ष स्वर्ग आदिका श्रद्धान नहिं होता किंतु पित्तज्वरवालेको मीठा भी दूध जिसप्रकार कड़ुवा लगता है उसीप्रकार अभव्यको भी सब धार्मिक बातें विपरीत ही भासती हैं इसलिये वांझके पुत्र और गधेके सींग होने जैसे असंभव हैं उसीप्रकार अभव्यके चिद्रूपका ध्यान होना भी सर्वथा असंभव है॥८॥

दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः ।
यथाऽजीर्णविकारस्य न भवेदन्नसंरुचिः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसको अजीर्णका विकार है—खाया पीया नहिं पचता उसकी जिसप्रकार अन्नमें रुचि नहिं होती उसीप्रकार जो दूरभव्य है उसकीभी शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें प्रीति नहिं होसकती ॥ ९ ॥

भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपज्ञानसंभवः ।
भवेन्नैव यथा पुत्रसंभूतिर्जनकं विना ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कि स्त्रीके विना पुरुषके पुत्र नहिं होसकता उसीप्रकार विना भेदविज्ञानके शुद्ध-चिद्रूपका ध्यान भी नहिं होसकता। भावार्थ-यह मेरा आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है और शरीर आदि पर तथा जड़ हैं ऐसे ज्ञानका नाम भेदविज्ञान है जबतक ऐसा ज्ञान नहिं होता तबतक शुद्धचिद्रूपका भी ज्ञान नहिं होसकता इसलिये शुद्धचिद्रूपके ज्ञानमें भेदविज्ञान प्रधान कारण है ॥ १० ॥

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार विना माताके पुत्र उत्पन्न नहिं होसकता उसीप्रकार कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले समस्त परिग्रहोंमें विना ममता त्यागे शुद्धचिद्रूपका ध्यान भी होना असंभव है अर्थात् पुत्रकी प्राप्तिमें जिसप्रकार माता कारण है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें स्त्री पुत्र आदिमें निर्ममता (ये मेरे नहीं हैं ऐसा भाव) होना कारण है ॥११॥

तत्तस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्नभव्यता ।

भेदज्ञानं परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः ॥ १२ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चिंताका अभाव, एकांतस्थान, आसन्न भव्यपना, भेदविज्ञान, और दूसरे पदार्थोंमें निर्ममता ये शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें कारण हैं—विना इनके शुद्धचिद्रूपका कदापि ध्यान नहिं हो सकता॥१२॥

नृस्त्रीतिर्यग्सुराणां स्थितिगतिवचनं नृत्यगानं शुचादि
क्रीडा क्रोधादि मौनं भयहसनजरारोदनस्वापशूकाः ।
व्यापाराकाररोगं नुतिनतिकदनं दीनतादुःखशंकाः
शृंगारादीन् प्रपश्यन्नशनमिह भवे नाटकं मन्यते ज्ञः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी है-संसारकी वास्तविक स्थितिका जानकार है वह, मनुष्य स्त्री तिर्यंच और देवोंके स्थिति गति और वचनको नृत्य और गानको शोक आदिको क्रीड़ा क्रोध आदि और मौनको भय हंसी बुढ़ापा रोना सोना व्यापार आकृति रोग स्तुति नमस्कार पीड़ा दीनता दुःख शंका भोजन और शृंगार आदिको संसारमें नाटकके समान मानता है। भावार्थ—जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे तो मनुष्य स्त्री देव देवांगना आदिके रहन सहन आदिको अच्छा बुरा समझते हैं शोक और आनंद आदिके उपस्थित होजानेपर दुःखी सुखी हो जाते हैं परंतु

ज्ञानी मनुष्य यह जानकर कि-नाटकमें कभी मनुष्य राजा कभी रंक, और कभी मनुष्य स्त्री आदिका वेष धारण करलेता है उसीप्रकार इस जीवके कभी मनुष्य आदि पर्याय कभी रोग शोक और कभी सुख दुःख सदा हुआ करते हैं-संसारका यह स्वभाव ही है दुःख सुख नहिं मानता ॥ १३ ॥

चक्रींद्रयोः सदसि संस्थितयोः कृपा स्या-
त्तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च ।
सर्वोत्तमेंद्रियसुखस्मरणेऽतिकष्टं
यस्योद्धचेतसि स तत्त्वविदां वरिष्ठः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके हृदयमें सभामें सिंहासनपर विराजमान हुये चक्रवर्ती और इंद्रके ऊपर दया है, शोभामें रतिकी तुलना करनेवाली इंद्राणी और चक्रवर्तीकी पटरानीमें घृणा है और जिसे सर्वोत्तम इंद्रियोंके सुखोंका स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है वह मनुष्य तत्त्वज्ञानियोंमें उत्तम तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। भावार्थ-ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि चक्रवर्ती और इंद्र आज सिंहासनपर बैठे हैं कल अशुभ कर्मके उदयसे मर कर कुगति जांयगे और लक्ष्मी नष्ट होजायगी उनपर दया करता है। यद्यपि चक्रवर्ती और इंद्रकी स्त्रियां महामनोज्ञ होती हैं तथापि विषयसंबंधी सुख

महानिकृष्ट और दुख देनेवाला है यह जानकर वह उनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है और उत्तमोत्तम इंद्रियोंके सुखोंको परिणाममें दुःखदायी समझ उनका स्मरण करते ही दुःख मान निकलता है ॥ १४ ॥

रम्यं वल्कलपर्णमंदिरकरीरं कांजिकं रामठं
लोहं ग्रावनिपादकुश्रुतमटेद् यावन्न यात्यंबरं ।
सौधं कल्पतरुं सुधां च तुहिनं स्वर्णं मणिं पंचमं
जैनीवाचमहो तथेंद्रियभवं सौख्यं निजात्मोद्भवं ॥ १५ ॥

अर्थ—जब तक मनुष्यको उत्तमोत्तम वस्त्र महल कल्पवृक्ष अमृत कपूर सोना मणि पंचमस्वर जिनेंद्रभगवान-की वाणी और आत्मीक सुख प्राप्त नहिं होते तभी तक वह बक्कल पत्तेका (सामान्य) घर करीर कांजी हींग लोह पत्थर निपादस्वर कुशास्त्र और इंद्रियजन्य सुखको उत्तम और कार्यकारी समझता है परन्तु उत्तम वस्त्र आदिके प्राप्त होते ही उसकी वक्कले आदिमें सर्वथा घृणा होजाती है—उनको वह जरा भी मनोहर नहिं मानता। भावार्थ—मनुष्य जबतक नीची दशामें रहता है और हीन पदार्थोंसे संबंध रखता है तबतक वह उन्हींको लोकोत्तर मानता है परंतु जब कि वह उन्नत और उत्तम पदार्थोंका लाभ करलेता है तो उसे वे हीन पदार्थ विलकुल बुरे लग

निकलते हैं उसीप्रकार जबतक यह आत्मा कर्मोंसे मलिन रहता है तबतक कर्मजनित पदार्थोंको ही उत्तम पदार्थ समझता है परंतु शुद्धात्माकी प्राप्ति होते ही उसै इंद्रियजन्य सुखदायक भी पदार्थोंसे सर्वथा घृणा होजाती है ॥१५॥

केचिद् राजादिवार्त्तां विषयरतिकलाकीर्त्तिरैप्राप्तिचिंतां
संतानोद्भूत्युपायं पशुनगविगवां पालनं चान्यसेवां ।
स्वापक्रीडौषधादीन् सुरनरमनसां रंजनं देहपोषं
कुर्वंतोऽस्यंति कालं जगति च विरलाः स्वस्वरूपोपलब्धिं ॥ १६ ॥

अर्थ—संसारमें अनेक मनुष्य राजा आदिके गुणगानकर काल व्यतीत करते हैं, कई एक विषय रति कला कीर्ति और धनकी चिंतासे समय विताते हैं और बहुतसे संतानकी उत्पत्तिका उपाय, पशु वृक्ष पक्षी गौ बैल आदिका पालन, अन्यकी सेवा, शयन, क्रीड़ा, औषधि आदिकासेवन, देव मनुष्योंके मनका रंजन और शरीका पोषण करते करते अपनी समस्त आयुके कालको समाप्त करदेते हैं इसलिये-जिनका समय स्वस्वरूप-शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें व्यतीत हो ऐसे मनुष्य संसारमें विरले ही हैं। भावार्थ-संसारमें मनुष्य अनेक प्रकारके होते हैं कोई राजकथा करना अच्छा समझते हैं, कोई कोई रातदिन इस चिंतामें लगे रहते हैं, कि हमको विषयसुख कला कीर्ति और धन कैसे मिले !

अनेकोंकी यह कामना रहती है, कि पुत्र कैसे हो ? इसलिये वे पुत्रकी उत्पत्तिके उपाय ही सोचते रहते हैं, कोई गौ वैल आदि पशुओंके पालन करनेमें ही आनंद मानते हैं, अनेक दूसरोंकी सेवा करना ही उत्तम समझते हैं, वहुतसे सोना खेलना औपधि आदिके सेवन करनेमें ही संतोप मानते हैं, किसी किसी मनुष्यका चित्त इसीचिंतासे व्याकुल रहा आता है कि अमुक देव वा मनुष्य हमसे प्रसन्न रहैं और अनेक मनुष्य अपने शरीरके ही भरण पोपणमें लगे रहते हैं सार यह है कि इनका समस्त जीवन इन्हीं कामोंमें व्यतीत होता रहता है वे शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न नहिं करसकते इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नितरां दुर्लभ है और उसको विरले ही मनुष्य प्राप्त करसकते हैं ॥ १६ ॥

वाचांगेन हृदा शुद्धचिद्रूपोहमिति ब्रुवे ।
सर्वदानुभवामीह स्मरामीति त्रिधा भजे ॥ १७ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके विपयमें सदा यह विचार करते रहना चाहिये-कि 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा मन वचन कायसे सदा कहता हूं तथा अनुभव और स्मरण करता हूं। भावार्थ-'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा प्रतिसमय कहनेसे अनुभव और स्मरण करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये दृढ़ प्रवृत्ति होती चली जाती है-उत्साह कम नहिं होता इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये अवश्य विद्वानोंको ऐसा करते रहना चाहिये ॥ १७ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुभूतां क्रियां भजेत्।
सुधीः कांचिच्च पूर्वं तद्ध्याने सिद्धे तु तां त्यजेत्॥ १८ ॥

अर्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपका ध्यान सिद्ध न होसकै तबतक विद्वानको चाहिये कि उसकी कारणरूप क्रियाका अवश्य आश्रय लें परंतु उस ध्यानके सिद्ध होते ही उस क्रियाका सर्वथा त्याग करदें। भावार्थ—जिसप्रकार चित्रकला सीखनेका अभिलाषी मनुष्य पहिले रद्दी कागजोंपर चित्र बनाना सीखता है पश्चात् चित्रकलामें प्रवीण होजाने-पर रद्दी कागजोंपर चित्र खींचना छोड़ उत्तम कागजोंपर खींचने लगजाता है उसीप्रकार जो मनुष्य प्रथम ही प्रथम शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता है उसका मन स्थिर नहिं रह सकता इसलिये उसै ध्यानकी सिद्धिके लिये भगवानकी प्रतिमा आदि सामने रखलेने चाहिये परंतु जिससमय ध्यान सिद्ध होजाय उससमय उनकी कोई आव-श्यकता नहीं, सर्वथा उनका त्याग करदेना चाहिये ॥ १८ ॥

अंगस्यावयवैरंगमंगुल्याद्यैः परामृशेत्।
मत्याद्यैः शुद्धचिद्रूपावयवैस्तं तथा स्मरेत्॥ १९॥

अर्थ—जिसप्रकार शरीरके अवयव अंगुली आदिसे शरीरका स्पर्श किया जाता है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके अवयव जो मतिज्ञान आदि हैं उनसे उसका स्मरण करना चाहिये ॥ १९ ॥

ज्ञेये दृश्ये यथा स्वे स्वे चित्तं ज्ञातरि दृष्टरि।
दद्याच्चेन्ना तथा विंदेत्परं ज्ञानं च दर्शनं ॥ २० ॥

अर्थ—मनुष्य जिसप्रकार घट पट आदि ज्ञेय और दृश्य पदार्थोंमें अपने चित्तको लगाता है उसीप्रकार यदि वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये ज्ञाता और दृष्टा—आत्मामें भी अपना चित्त लगावे तो उसे स्वस्वरूप शुद्ध दर्शन और ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त होजांय ॥ २० ॥

उपायभूतमेवात्र शुद्धचिद्रूपलब्धये।
यत् किंचित्तत् प्रियं मेऽस्ति तदर्थित्वान्न चापरं ॥ २१ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके इच्छुक मनुष्यको सदा ऐसा विचार करते रहना चाहिये कि-जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें कारण है वह मुझे प्रिय है क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका अभिलाषी हूं और जो पदार्थ उसकी प्राप्तिमें कारण नहीं है उससे मेरा प्रेम भी नहीं है ॥ २१ ॥

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥ २२ ॥

अर्थ—यह चिद्रूप, अन्यद्रव्योंके संसर्गसे रहित केवल है शुद्ध है और आनंदस्वरूप है ऐसा मैं स्मरण करता हूं। क्योंकि जो यह आधे श्लोकमें कहा गया भगवान सर्वज्ञका उपदेश है वह ही मोक्षका कारण है ॥ २२ ॥

वहिश्रितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं वृथा।
अंधस्य नर्त्तनं गानं वधिरस्य यथा भुवि ॥ २३ ॥
अंताश्रितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं हितं।
बुभुक्षिते पिपासार्त्तेऽन्नं जलं योजितं यथा ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधेके सामने नाचना और वहिरेके सामने गीत गाना व्यर्थ है उसीप्रकार वहिरात्माके सामने शुद्धचिद्रूपकी कथा भी कार्यकारी नहीं हैं परंतु जिसप्रकार भूंखेके लिये अन्न और प्यासेके लिये जल हितकारी है उसीप्रकार अंतरात्माके सामने कहागया शुद्धचिद्रूपका उपदेश भी परम हित प्रदान करनेवाला है ॥२३॥२४॥

उपाया वहवः संति शुद्धचिद्रूपलब्धये।
तद्ध्यानेन समो नाभूदुपायो न भविष्यति ॥ २५ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्युपायनिरूपणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अर्थ—अंतमें ग्रंथकार कहते हैं कि-यद्यपि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके वहुतसे उपाय हैं तथापि उनमें ध्यानरूप उपायकी तुलना करनेवाला न कोई उपाय हुआ है न है और न होगा इसलिये जिन्हें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकी अभिलाषा हो उन्हें चाहिये कि वे सदा उसका ही नियमसे ध्यान करै ॥ २५ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका उपाय वर्णनकरनेवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय ।

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना
केषांचिन्न वलक्षयो न न भयं पीडा परस्यापि न ।
सावद्यं न न रोगजन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि
चिद्रूपस्मरणे फलं वहु कथं तन्नाद्रियंते वुधाः ॥ १ ॥

अर्थ—इस परमपावन चिद्रूपके स्मरण करनेमें न किसी प्रकारका क्लेश उठाना पड़ता है न धनका व्यय,

देशांतरमें गमन और दूसरेसे प्रार्थना करनी पड़ती है। किसीप्रकारकी शक्तिका क्षय, भय, दूसरेको पीडा, पाप, रोग, जन्म मरण और दूसरेकी सेवाका दुःख भी नहिं भोगना पडता इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलोंके धारक भी इस शुद्धचिद्रूपके स्मरणकरनेमें हे विद्वानो! तुम क्यों उत्साह और आदर नहिं करते? यह नहिं जान पड़ता। भावार्थ–संसारमें बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्तिमें अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं धनव्यय, दूसरे देशमें गमन, दूसरेसे प्रार्थना, शक्तिका क्षय, भय, दूसरोंको पीड़ा, नानाप्रकारके पाप, रोग, जन्म, मरण और अन्यसेवा आदि निकृष्ट कार्योंका भी सामना करना पडता है परंतु शुद्धचिद्रूपके स्मरणमें उपर्युक्त किसीबातका दुःख भोगना नहिं पड़ता इसलिये आत्मीकसुखके अभिलाषी विद्वानोंको चाहिये कि वे अचिंत्यसुख प्रदान करनेवाले इस शुद्धचिद्रूपका अवश्य स्मरण करें ॥ १ ॥

दुर्गमा भोगभूः स्वर्गभूमिर्विद्याधरावनिः।
नागलोकधरा चातिसुगमा शुद्धचिद्धरा ॥ २ ॥
तत्साधने सुखं ज्ञानं मोचनं जायते समं।
निराकुलत्वमभयं सुगमा तेन हेतुना ॥ ३ ॥

अर्थ—संसारमें भोगभूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधरलोक और नागलोककी प्राप्ति तो दुर्गम-दुर्लभ है परंतु शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्ति अतिसरल है क्योंकि चिद्रूपके साधनमें तो सुख ज्ञान मोचन निराकुलता और भयका नाश ये साथ २ होते चले जाते हैं और भोगभूमि आदिके साधनमें बहुत कालके बाद दूसरे जन्ममें होते हैं। भावार्थ—भोगभूमि स्वर्गभूमि विद्याधरलोक और नागलोककी प्राप्ति संसारमें अतिकष्टसाध्य है हरएक मनुष्य भोगभूमि आदिकी प्राप्ति कर नहिं सकता और जो कर भी सके हैं वे तप आदि आचरण करनेसे बहुत दिनोंके बाद, पर जन्ममें कर सकते हैं और तभी वे वहांका सुख भोग सकते हैं परंतु जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपके स्मरण और ध्यान करनेवाले हैं वे विना ही किसी कष्टके साथ ही साथ उसका सुख भोग लेते हैं उसे प्राप्त कर लेते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान अवश्य करैं ॥ २–३ ॥

अन्वाश्मागुरुनागफेनसदृशं स्पर्शेन तस्यांशतः
कौमाराम्रकसीसवारिसदृशं स्वादेन सर्वं वरं।
गंधेनैव घृतादि वस्त्रसदृशं दृष्ट्या च शब्देन च
कर्कर्यादि च मानसेन च यथा शास्त्रादि निश्चीयते ॥ ४ ॥

स्मृत्या दृष्टनगाब्धिभूरुहपुरीतिर्यग्नराणां तथा
सिद्धांतोक्तसुराचलह्रदनदीद्वीपादिलोकस्थितेः ।
स्वार्थानां कृतपूर्वकार्यविततेः कालत्रयाणामपि
स्वात्मा केवलचिन्मयोंऽशकलनात् सर्वोऽस्य निश्चीयते ॥ ५ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—जिसप्रकार अभ्र पाषाण अगुरु और अफीमके समान पदार्थके कुछ भागके स्पर्श करनेसे, इलायची आम कसीस और जलके समान पदार्थके कुछ अंशके स्वादसे, घी आदिके समान पदार्थके कुछ अंशके सूंघनेसे, वस्त्र सरीखे पदार्थके किसी अंशको आंखसे देखनेसे कर्करी (झालर) आदिके शब्द श्रवणसे, और मनसे शास्त्र आदिके समस्त स्वरूपका निश्चय करलिया जाता है उसीप्रकार पहिले देखे हुये पर्वत समुद्र वृक्ष नगरी गाय भैंस आदि तिर्यंच और मनुष्योंके, शास्त्रोंसे जानेगये मेरु ह्रद तालाव नदी और द्वीप आदि लोककी स्थितिके, पहिले अनुभूत इंद्रियोंके विषय और किये गये कार्योंके, एवं तीनों कालोंके, स्मरण आदि कुछ अंशोंसे अखंड चैतन्य स्वरूपके पिंड स्वरूप इस आत्माका भी निश्चय करलिया जाता है । भावार्थ—जिसप्रकार पाषाण इलायची घी झालर आदि पदार्थोंके समान पदार्थोंमें पाषाण आदिके समान ही स्पर्श रस गंध आदि गुण

रहते हैं, इसलिये उनके स्पर्श रस गंध वा शब्द आदि किसी अंशसे उनके समस्त स्वरूपका निश्चय करलिया जाता है उसीप्रकार यह आत्मा भी मतिज्ञान स्मृतिज्ञान आदि चेतनाओंका पिंडस्वरूप है क्योंकि इसे पहिले देखे पर्वत समुद्र वृक्ष आदि पदार्थोंका स्मरण होता है। शास्त्रमें वर्णन किये मेरु ह्रद नदी आदिके स्वरूपको यह जानता है। पहिले अनुभूत इंद्रियोंके विषय और किये गये कामोंका भी इसै स्मरण रहता है, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंको भी भलेप्रकार जानता है इसलिये स्मरण आदि कुछ अंशोंके निश्चयसे इसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि समस्त स्वरूपका निश्चय होजाता है क्योंकि स्मृति आदि अंश सिवा इसके दूसरे किसी पदार्थमें नहिं रहते ॥ ४–५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं च कालं च भावमिच्छेत् सुधीः शुभं।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिहेतुभूतं निरंतरं ॥ ६ ॥
न द्रव्येन न कालेन न क्षेत्रेण प्रयोजनं।
केनचिन्नैव भावेन लब्धे शुद्धचिदात्मके ॥ ७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये, कि वे उसकी प्राप्तिके अनुपम

कारण शुद्ध द्रव्य क्षेत्र काल और भावका सदा आश्रय करैं। परंतु जिससमय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होजाय उस-
समय द्रव्य क्षेत्र काल भावके आश्रय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भावार्थ–कोलाहलपूर्ण और अशुभ द्रव्य
क्षेत्र काल भावके आश्रयसे कभी भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती इसलिये उसके इच्छुक विद्वानोंको
चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये शुभ किंतु अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भावका आश्रय करैं। हां जब शुद्ध
चिद्रूपकी प्राप्ति होजाय तब शुभ द्रव्य क्षेत्र काल और भावके आश्रय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं ॥६॥७॥

परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वदृक् शिवः।
नामानीमान्यहो शुद्धचिद्रूपस्यैव केवलं ॥ ८ ॥

अर्थ—परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वद्रष्टा और शिव ये समस्त नाम उसी शुद्धचिद्रूपके हैं। भावार्थ–
शुद्धचिद्रूप समस्त कर्मोंसे रहित होगया है इसलिये वह परमात्मा और परंब्रह्म है, ज्ञान दर्शन आदि चेतनाओं-
का पिंडस्वरूप है इसलिये चिदात्मा-चैतन्यस्वरूप है, समस्त पदार्थोंका देखनेवाला है इसलिये सर्वदृक्–सर्वद्रष्टा
है और कल्याणस्वरूप है इसलिये शिव है ॥ ८ ॥

मध्ये श्रुताब्धेः परमात्मनामरत्नव्रजं वीक्ष्य मया गृहीतं।
सर्वोत्तमत्वादिदमेव शुद्धचिद्रूपनामातिमहार्घ्यरत्नं ॥ ९ ॥

अर्थ—जैनशास्त्र एक अपार सागर है और उसमें परमात्माके नामरूपी अनंते रत्न भरे हुये हैं, उनमेंसे भले-प्रकार परीक्षाकर और सबोंमें अमूल्य उत्तम मान यह शुद्धचिद्रूपका नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है। भावार्थ—जिसप्रकार रत्नाकर—समुद्रमें अनंते रत्न विद्यमान रहते हैं और उनमेंसे किसी एक सार व उत्तम रत्नको ग्रहण कर लिया जाता है उसीप्रकार जैनशास्त्रमें भी परंब्रह्म परमात्मा शुद्धचिद्रूप आदि अगणित परमात्माके नाम उल्लिखित हैं, उनमेंसे मैने शुद्धचिद्रूप इस नामको उत्तम और परम प्रिय मान ग्रहण किया है और इसीनामका मनन व ध्यानकरना उत्तम समझा है ॥ ९ ॥

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥ १० ॥

अर्थ—संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके न तो मैं कुछ हूं और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है इसलिये शुद्धचिद्रूपसे अन्य किसी पदार्थमें मेरा चिंता करना वृथा है क्योंकि अन्य पदार्थकी चिंतासे मेरे स्वस्वरूपका नाश होता है। भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं मुझसे अन्य समस्त पदार्थ जड़ हैं। जड़ और चेतनमें अतिभेद है कभी जड़ चेतन नहिं हो सकता और चेतन जड़ नहिं होसकता इसलिये मुझे जड़को अपनाना और उसकी चिंता न करना चाहिये क्योंकि जड़का ध्यान करनेसे शुद्धचिद्रूपका ध्यान सर्वथा विलीन होजाता है ॥ १० ॥

अनुभूय मया ज्ञातं सर्वं जानाति पश्यति ।
अयमात्मा यदा कर्मप्रतिसीरा न विद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ---जिस समय कर्मरूपी पर्दा इस आत्माके ऊपरसे हट जाता है उससमय यह, समस्त पदार्थोंको साक्षात् जान देख लेता है यह बात मुझे अनुभवसे मालूम पड़ती है । भावार्थ—यह आत्मा अनादिकालसे संसारमें रुल रहा है, और कर्मोंसे आवृत होनेके कारण इसै बहुत ही अल्प ज्ञान होता है परंतु जिससमय कर्मोंका आवरण हट जाता है उससमय यह समस्त पदार्थोंको हाथकी रेखाके समान स्पष्टरूपसे देख जान लेता है यह बात अनुभवसिद्ध है ॥ ११ ॥

विकल्पजालजंबालान्निर्गतोऽयं सदा सुखी ।
आत्मा तत्र स्थितो दुःखीत्यनुभूय प्रतीयतां ॥ १२ ॥

अर्थ---जबतक यह आत्मा नानाप्रकारके संकल्प विकल्परूपी शेवाल (काई) में फसा रहता है तबतक यह सदा दुःखी बना रहता है-क्षणभरकेलिये भी इसे सुखशांति नहिं मिलती परंतु जब इसके संकल्प विकल्प छूट जाते हैं उससमय यह सुखी होजाता है-निराकुलतामय सुखका अनुभव करने लगजाता है ऐसा स्वानुभवसे निश्चय होता है ॥ १२ ॥

अनुभूत्या मया बुद्धमयमात्मा महाबली ।
लोकालोकं यतः सर्वमंतर्नयति केवलः ॥ १३ ॥

अर्थ—यह शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा अचिंत्यशक्तिका धारक है ऐसा मैंने भलेप्रकार अनुभवकर जानलिया है क्योंकि यह अकेला ही समस्त लोक अलोकको अपनेमें प्रविष्ट करलेता है । भावार्थ–जिसके ज्ञानमें अनंत-प्रदेशी लोक अलोक दोनों प्रविष्ट होजाते हैं-जो लोकाकाश अलोकाकाश दोनोंको स्पष्टरूपसे जानता है, ऐसा यह आत्मा है इसलिये यह अचिंत्य शक्तिका धारक है अन्य किसी पदार्थमें ऐसी सामर्थ्य नही जोकि इस आत्माकी तुलना करसके ॥ १३ ॥

स्मृतिमेति यतो नादौ पश्चादायाति किंचन ।
कर्मोदयविशेषोऽयं ज्ञायते हि चिदात्मनः ॥ १४ ॥
विस्फुरेन्मानसे पूर्वं पश्चान्नायाति चेतसि ।
किंचिद्वस्तु विशेषोऽयं कर्मणः किं न बुध्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा किसी पदार्थका स्मरण करता है तो पहिले वह पदार्थ उसके ध्यानमें

जल्दी प्रविष्ट नहिं होता परंतु एकाग्र हो जब यह बार बार ध्यान करता है तब उसका कुछ कुछ स्मरण हो आता है इसलिये इससे ऐसा जान पड़ता है, कि यह आत्मा कर्मोंसे आवृत है। तथा पहिले ही पहिल यदि किसी पदार्थका स्मरण भी होजाय तो उसके जरा ही विस्मरण होजानेपर फिर बार बार स्मरण करनेपर भी उसका स्मरण नहिं आता इसलिये आत्मापर कर्मोंकी माया जान पड़ती है अर्थात् आत्मा कर्मके उदयसे अवनत है यह स्पष्ट जान पड़ता है। भावार्थ—यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालकी पर्यायोंको हाथकी रेखाके समान देखना जानना इस आत्माका स्वभाव है तथापि यह देखनेमें आता है कि यह बहुत थोड़े पदार्थोंको जानता देखता है एवं पहिले देखे सुने किसी एक पदार्थका स्मरण कर सकता है और किसी एकका नही इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कोई न कोई विरोधी पदार्थ अवश्य इसकी शक्तिका रोकनेवाला है और वह शुभ अशुभ कर्म ही है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥ १६ ॥

अर्थ—संसारके समस्तकार्योंमें शुद्धचिद्रूपका चिंतन मनन ध्यान करना ही सुखसाध्य-सुखसे सिद्ध होनेवाला है क्योंकि यह निजाधीन है इसकी सिद्धिमें अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा नहिं करनी पड़ती और इससे इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत् ।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा ॥ १७ ॥

अर्थ—मोहके उदयसे मत्त जीवका मन जिसप्रकार संपत्ति और स्त्रियोंमें रमण करता है उसीप्रकार यदि वही मन उनसे उपेक्षाकर शुद्धचिद्रूपकी ओर झुकै-उससे प्रेमकरै, तो देखते देखते ही इसजीवको मोक्षकी प्राप्ति होजाय। भावार्थ–मन चाहता तो यह है, कि मुझे सुख मिलै परंतु सुखका उपाय कुछ नहिं करता। उल्टा महाबलवान मोहनीय कर्मके फंदमें फंसकर कभी धन उपार्जन करता है और कभी स्त्रियोंके साथ रमण करता फिरता है। यदि यह शुद्धचिद्रूपकी चिंता करै तो बहुत ही शीघ्र इसै मोक्षसुख मिल जाय॥ १७ ॥

विमुच्य शुद्धचिद्रूपचिंतनं ये प्रमादिनः ।
अन्यत् कार्यं च कुर्वंति ते पिबंति सुधां विषं ॥ १८ ॥

अर्थ—जो आलसी मनुष्य सुख दुःख और उनके कारणोंको भलेप्रकार जानकर भी प्रमादके उदयसे शुद्धचिद्रूपकी चिंता छोड़ अन्य कार्य करने लगजाते हैं वे अमृतको छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करतेहैं इसलिये तत्त्वज्ञोंको शुद्धचिद्रूपका सदा ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥ १९ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषय भोगनेमें जीवोंका चित्त सदा व्याकुल बना रहता है इसलिये उन्हें अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं और शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेमें किसीप्रकारकी आकुलता नहिं होती इसलिये उसकी प्राप्तिसे जीवोंका परम कल्याण होता है ॥ १९ ॥

रागद्वेषादिजं दुःखं शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।
याति तच्चिंतनं न स्याद् यतस्तद्गमनं विना ॥ २० ॥

अर्थ—राग द्वेष आदिके कारणसे जीवोंको अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपका स्मरण करते ही वे पलभरमें नष्ट होजाते हैं—ठहर नहिं सकते क्योंकि विना राग आदिके दूर हुये शुद्धचिद्रूपका ध्यानही नहिं हो सकता ॥ २० ॥

आनंदो जायतेत्यंतः शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
निराकुलत्वरूपो हि सतां यत्तन्मयोऽस्त्यसौ ॥ २१ ॥

अर्थ—निराकुलतारूप (किसीप्रकारकी आकुलता न होना) आनंद है और इस आनंदकी प्राप्ति सज्जनोंको शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे ही होसकती है क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप आनंदमय है-आनंद पदार्थ इससे जुदा नहीं है ॥२१॥

तं स्मरन् लभते ना तमन्यदन्यच्च केवलं ।
याति यस्य पथा पांथस्तदेव लभते पुरं ॥ २२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पथिक मनुष्य जिस गांवके मार्गको पकड़कर चलता है वह उसी गांवमें पहुच जाता है अन्यगांवके मार्गसे चलनेवाला अन्यगांवमें नहीं उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है वह शुद्धचिद्रूपको प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थोंकी आराधना करता है वह उनकी प्राप्ति करता है परंतु यह कदापि नहिं होसकता कि अन्य पदार्थोंका ध्यान करै और शुद्धचिद्रूपको पा जाय ॥ २२ ॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोऽगिनां ।
तज्जयेऽत्यंतसुगमा क्रियाकांडविमोचनात् ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूपणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरागिण्या शुद्धचिद्रूपप्राप्तिसुगमत्वप्रतिपादको नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह मोहनीय कर्म महाबलवान है जो जीव इसके जालमें जिकड़े हैं उन्हें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति दुस्साध्य

है और जिन्होंने इसे जीतलिया है उन्हें तप आदि क्रियाओंके विना ही, सुलभतासे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होजाती है २३

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिको सुगम बतलानेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पांचवां अध्याय ।

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातूपलानां
स्त्रीभाश्वानां नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानां ।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान् विशदमतितया ज्ञातवान् प्रायशोऽहं
शुद्धं चिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित् ॥ १ ॥

अर्थ— मैंने पहिले कई वार रत्न, औषधि, वस्त्र, घी आदि रस, रोग. अन्न, सोना चांदी आदि धातु, पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोड़े, मनुष्य मगर मच्छ आदि जलके जीव, पक्षी, और गाय भैंस आदि पदार्थोंके नाम

उत्पत्ति मूल्य और प्रयोजन भलेप्रकार अपनी विशद बुद्धिसे जान सुन लिये हैं परंतु जो शुद्धचिद्रूप नित्य है आत्मिक है उसै आजतक कभी पहिले नहिं जाना है। भावार्थ—मैं अनादिकालसे इस संसारमें घूम रहा हूं मुझसें संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहि बचा जिसका मैंने नाम न जाना हो, उसकी उत्पत्तिके कारण मूल्य और प्रयोजन न पहिचाने हों परंतु एक शुद्धचिद्रूप नामका पदार्थ ऐसा बचगया है जिसका न मैंने कभी नाम सुना न इसकी प्राप्तिके उपाय सोचे और न इसका प्रयोजन ही पहिचाना इसलिये यह मेरे लिये अपूर्व पदार्थ है ॥ १ ॥

पूर्वं मया कृतान्येव चिंतनान्यप्यनेकशः।
न कदाचिन्महामोहात् शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ २ ॥

अर्थ—पहिले मैंने अनेक वार अनेक पदार्थोंका मनन ध्यान किया है परंतु पुत्र स्त्री आदिके मोहसे मूढ हो शुद्धचिद्रूपका कभी आज तक चिंतवन न किया ॥ २ ॥

अनंतानि कृतान्येव मरणानि मयापि न।
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतं ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं अनंतवार अनंते भवोंमें मरा परंतु मृत्युके समय 'मैं शुद्ध चिद्रूप हूं' ऐसा स्मरणकर कभी न मरा ॥३॥

सुरद्रुमा निधानानि चिंतारत्नं द्युसद्गवी ।
लब्धा च न परं पूर्वं शुद्धचिद्रूपसंपदा ॥ ४ ॥

अर्थ—मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणिरत्न, और कामधेनु प्रभृति लोकोत्तर अनन्यलभ्य विभूतियां प्राप्त करलीं परंतु अनुपम शुद्धचिद्रूप नामकी संपत्ति आजतक कहीं न पाई ॥ ४ ॥

द्रव्यादिपंचधा पूर्वं परावर्त्ता अनंतशः ।
कृतास्तेष्वेकशो न स्वं स्वरूपं लब्धवानहं ॥ ५ ॥

अर्थ—मैंने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण किया इसमें द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव नामक पांचो परिवर्तन भी अनेकवार पूरे किये परंतु स्वस्वरूप-शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति मुझे आज तक एकवार भी न हुई ॥ ५ ॥

इंद्रादीनां पदं लब्धं पूर्वं विद्याधरेशिनां ।
अनंतशोऽहमिंद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मैंने पहिले अनेक वार इंद्र नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये अनंतीवार विद्याधरोंका स्वामी और अहमिंद्रभी हुआ परंतु आत्मिकरूप-शुद्धचिद्रूपका लाभ न करसका ॥ ६ ॥

मध्ये चतुर्गतीनां च वहुशो रिपवो जिताः ।
पूर्वं न मोहप्रत्यर्थी स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ ७ ॥

अर्थ—नरक मनुष्य तिर्यंच और देव चारों गतियोंमें भ्रमणकर मैंने अनेकवार अनेक शत्रुओंको जीता परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये उसके विरोधी महाबलवान मोहरूपी वैरीको कभी नहिं जीता ॥ ७ ॥

मया निःशेषशास्त्राणि व्याकृतानि श्रुतानि च ।
तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृतं तीव्रमोहिना ॥ ८ ॥

अर्थ—मैंने संसारमें अनंतवार कठिनसे कठिन भी अनेक शास्त्रोंका व्याख्यान करडाला, वहुतसे शास्त्रोंका श्रवण भी किया परंतु मोहसे मूढ़ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूपका वर्णन है उसे कभी स्वीकार न किया ॥ ८ ॥

वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थितः ।
न लब्धं शुद्धचिद्रूपं तत्रापि भ्रमतो निजं ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसारमें भ्रमणकर मैंने कई वार वृद्धोंकी सेवाकी, विद्वानोंकी वड़ी वड़ी सभाओंमें भी बैठा परंतु अपने आत्मिक स्वरूप-शुद्धचिद्रूपका कभी मैंने लाभ न किया ॥ ९ ॥

मानुष्यं वहुशो लब्धमार्यें खंडे च सत्कुलं।
आदिसंहननं शुद्धचिद्रूपं न कदाचन ॥ १० ॥

अर्थ—मैं आर्यखंडमें वहुतवार मनुष्य हुआ, कईवार उत्तम कुलमें भी जन्म पाया परंतु वज्रवृषभनाराचसंहनन और शुद्धचिद्रूपकी मुझै कभी भी प्राप्ति न हुई ॥ १० ॥

शौचसंयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतरा धृतवानहं ॥ ११ ॥

अर्थ—मैंने अनंतवार शौच संयम शीलोंको भी धारण किया, भांति भांतिके घोरतम तप भी तपे परंतु शुद्धचिद्रूपका कभी स्मरण न किया ॥ ११ ॥

एकेंद्रियादिजीवेषु पर्यायाः सकला धृताः।
अजानता स्वचिद्रूपं परस्पर्शादिजानता ॥ १२ ॥

अर्थ—मैं अनेकवार एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय हुआ, एकेंद्रियआदिमें वृक्ष आदि अनंती पर्यायोंको धारण किया, दूसरेके स्पर्श रस गध आदिको भी जाना परंतु स्वस्वरूप चिद्रूपको आजतक न पाया न पहिचाना ॥ १२ ॥

ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं सचेतनमचेतनं ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं न कदाचिच्च केवलं ॥ १३ ॥

अर्थ—मैंने संसारमें चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंको भलेप्रकार देखा जाना परंतु केवल शुद्धचिद्रूपनामका एक पदार्थ ऐसा वाकी वचगया जिसे कभी मैंने न जाना न देखा ॥ १३ ॥

लोकज्ञातिश्रुतसुरनृपतिश्रेयसां भामिनीनां
यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां ज्ञातवान् प्रायशोऽहं ।
क्षेत्रादीनामशकलजगतो वा स्वभावं च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा संसृतौ तीव्रमोहात् ॥ १४ ॥

अर्थ—संसारमें लोक, ज्ञाति, शास्त्र, देव और राजाओंकी विभूतियोंको, स्त्रियों और मुनि आदिके समस्त व्यवहारको कईबार मैंने जाना, क्षेत्र नदी पर्वत आदि खंड खंड और समस्त जगतके स्वभावको भी पहिचाना परंतु मोहकी तीव्रतासे "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" इसवातको मैने निश्चयरूपसे कभी न जान पाया। भावार्थ-देखनेमें आता है संसारमें प्रायः मनुष्य, लोककी विभूति और जाति आदिके गौरवको उत्तम समझते हैं और उसीको हितकारी मान उसकी

प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करते हैं परंतु मैंने इन सबको भले प्रकार जान देख और प्राप्त करलिया किंतु अभीतक मुझे केवल शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कभी नहिं हुई ॥ १४ ॥

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधः ।
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि ॥ १५ ॥

अर्थ—बहुतबार मैं शीतकालमें नदीके किनारे, वर्षाकालमें वृक्षके नीचे और ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतकी चोटियों-पर स्थित हुआ परंतु अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें मैंने कभी स्थिति न की ॥ १५ ॥

विहितो विविधोपायैः कायक्लेशो महत्तमः ।
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं स्वस्वरूपमजानता ॥ १६ ॥

अर्थ—"मुझे स्वर्ग आदि सुखकी प्राप्ति हो" इस अभिलाषासे मैंने अनेक प्रयत्नोंसे घोरतम भी कायक्लेश तप तपे परंतु शुद्धचिद्रूपकी ओर जरा भी ध्यान न दिया-स्वर्ग चक्रवर्ती आदिके सुखके सामने मैंने शुद्धचिद्रूप-सुखको तुच्छ समझा ॥ १६ ॥

अधीतानि च शास्त्राणि बहुवारमनेकशः ।

मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकं ॥ १७ ॥

अर्थ—मैंने बहुतबार अनेक शास्त्रोंको पढ़ा परंतु मोहसे मत्त हो शुद्धचिद्रूपका स्वरूप समझानेवाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया ॥ १७ ॥

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः ।
लब्धो मन्ये कदाचित्तं विनाऽसौ लभ्यते कथं ॥ १८ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाला आजतक मुझे कोई गुरु भी न मिला और जब गुरुही कभी न मिला तब शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो ही कहां सकती थी ! अर्थात् विना शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके मर्मज्ञ गुरुके शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति सर्वथा दुःस्साध्य है ॥ १८ ॥

सचेतने शुभे द्रव्ये कृता प्रीतिरचेतने ।
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया ॥ १९ ॥

अर्थ—अतिशय मोही होकर मैंने सजीव शुभद्रव्योंमें प्रीतिकी, अचेतन द्रव्योंको भी प्रीतिका करनेवाला माना परंतु आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें कभी प्रेम न किया। भावार्थ–मुनि आदि शुभ चेतनद्रव्योंमें और भगवानकी

प्रतिमा आदि शुभ अचेतन द्रव्योंमें मैंने गाढ़ प्रेम किया परंतु ये परद्रव्य होनेसे मेरी अभीष्ट सिद्धि न करसके क्योंकि मेरे अभीष्टकी सिद्धि आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करनेसे ही होसकती थी सो उसमें मैंने कभी प्रेम न किया ॥१९॥

दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च।
बहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिंतनं ॥ २० ॥

अर्थ—इस संसारमें मैंने कठिनसे कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये परंतु आजतक शुद्धचिद्रूपकी कभी चिंता न की ॥ २० ॥

पूर्वं या विहिता क्रिया किल महामोहोदयेनाखिला
मूढत्वेन मयेह तत्र महतीं प्रीतिं समातन्वता।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मंदमोहस्य मे
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतो धिग् विमोहोदयं ॥ २१ ॥

अर्थ—सांसारिक बातोंमें अतिशय प्रीतिको करानेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे मूढ़ बन जो मैंने पहिले समस्त कार्य किये हैं वे इससमय मुझे विषसरीखे दुःखदायी जान पड़ रहे हैं, क्योंकि इस समय मै शुद्धचिद्रूपमें

लीन होगया हूं। मेरा मोह मंद होगया है। और सब बातोंसे मेरी इच्छा हट गई है, इसलिये इस मोहनीय कर्मके उदयकेलिये सर्वथा धिक्कार है। भावार्थ—जबतक मैं मूढ़ था हित और अहितको जरा भी नहिं पहिचानता था तबतक मोहके उदयसे मैं जिस कामको करता था उसै बहुत अच्छा मानता था परंतु जब मैं शुद्धचिद्रूपमें लीन हुआ मेरा मोह मंद हुआ, और समस्त ऐहिक पदार्थोंसे मेरी इच्छा हटी तो मोहके उदयसे किये वे समस्त कार्य मुझै विष सरीखे मालूम होने लगे-जरा भी उनमें मेरा प्रेम न होने लगा इसलिये इस मोहनीय कर्मके लिये सर्वथा धिक्कार है ॥ २१ ॥

व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां वृंदैरापूरितो भृशं।
लब्धस्तेनावकाशो न शुद्धचिद्रूपचिंतने ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्य पूर्वालब्धिप्रतिपादकः पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारके विकल्पोंसे मैं सदा भरा रहा, कभी मै अपने संकल्प विकल्पोंको दूसरेके सामने प्रगट करता रहा और कभी मेरे मनमें ही वे टकराकर नष्ट होते रहे इसलिये आजतक मुझै शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेका कभी भी अवकाश न मिला ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी
पूर्वमें प्राप्ति न होनेका वर्णन करनेवाला पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय।

जानंति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा
मग्नं भूरिपरीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितं।
मृत्यासन्नतया गतं विकृतितां चेद् भ्रांतिमंतं परे
चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचनं जानंतु मामंगिनः॥ १॥

अर्थ—चिद्रूपकी चिंतामें लीन मुझे अनेक मनुष्य- बावला, खोटे ग्रहोंसे अस्त व्यस्त, पिशाचोंसे ग्रस्त, रोगोंसे पीडित भांति २ की परीषहोंसे विकल, बुड्ढा, बहुत जल्दी मरनेवाला होनेके कारण विकृत, और ज्ञान शून्य हो घूमनेवाला जानते हैं सो जानो परंतु मैं ऐसा नहीं हूं क्योंकि मुझे इसबातका पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं। भावार्थ—मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं ऐसा पूर्ण निश्चय होजानेसे जब मैं उसकी प्राप्तिके लिये उपाय करता हूं और ऐहिक कृत्योंसे संबंध छोड़देता हूं उससमय बहुतसे मनुष्य मुझे उदासीन जान पागल कहते हैं। कोई कहता है इसपर खोटे ग्रहोंने कोप किया है। बहुतसे कहते हैं यह किसी पिशाचके झपटमें आगया है। अनेक कहते हैं इसै कुछ रोग होगया है। बहुतसे कहते हैं परीषह सहते सहते यह व्यकुल होगया है। एक कहता है अजी यह बुड्ढा

होगया है इसलिये इसकी बुद्धि भ्रष्ट होगई है दूसरा कहता है अजी इसकी मृत्यु बिलकुल समीप है इसलिये इसे कुछ विकार होगया है और अनेक कहते हैं यह व्यर्थ मुंह उठाये घूमता फिरता है परंतु मेरा ऐसा कहनेसे कोई नुक्सान नहीं क्योंकि ये मनुष्य अज्ञानी हैं-हित अहितको जराभी न पहिचाननेवाले हैं । मुझे तो इस बातका पूर्णनिश्चय है, कि मैं शुद्धचैतन्यस्वरूप हूं ॥ १ ॥

उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं
निश्चिंतं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत् ।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद् भाति भेदज्ञचित्ते ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय स्व और परका भेद विज्ञान होजाता है उससमय शुद्धात्मदृष्टिसे रहित यह जगत चित्तमें ऐसा जान पड़ने लगता है मानो यह उन्मत्त और भ्रांत है। इसके दोनों नेत्र बंद होगये हैं यह दिग्विमूढ़ होगया है। गाढ़ निद्रामें सोरहा है। मन रहित असैनी मूर्च्छासे बेहोश, और जलके प्रवाहमें बहा चला जा रहा है। बालकके समान अज्ञानी है। अपना सेवक बना लिया है । बावला और मोहरूपी धूर्तोंने व्याकुल बना दिया है ।

भावार्थ—यदि शुद्धात्मदृष्टिसे देखा जाय तो वास्तवमें यह जगत उन्मत्त भ्रांत मूर्च्छित सुप्त और आकुलित आदि है और स्व परके ज्ञान होनेसे यह ऐसा ही भासने लगता है सो ठीक भी है क्योंकि भेदविज्ञानीका लक्ष्य शुद्धचिद्रूपकी ओर रहता है और संसार अपने अपने अभीष्ट लक्ष्यको लेकर काम करता है आपसमें दोनोंका विरोध है इसलिये भेदविज्ञानीको संसारकी स्थिति अवश्य ही विपरीत जान पड़नी चाहिये ॥ २ ॥

स्त्रीणां भर्त्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः ।
कासाराद्यम्बुधराणाममृतमिव नृणां वा निजौकः सुराणां
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार स्त्रियोंको अपना स्वामी, बलभद्रोंको नारायण, राजाओंको पृथ्वी, गौओंको बछड़े, चकवियोंको सूर्य, चातकोंको मेघका जल, जलचर आदि जीवोंको तालाव आदि, मनुष्योंको अमृत, देवोंको स्वर्ग, और रोगियोंको वैद्य अधिक प्यारा लगता है उसीप्रकार मुझे शुद्धचिद्रूपका नाम परमप्रिय मालूम होता है इसलिये मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्धचिद्रूप सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहै ॥ ३ ॥

शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं वधं ताडनं
छेदं भेदगदादिहास्यदहनं निंदाऽऽपदापीडनं।
पव्यग्न्यब्ध्यगपंककूपवनभूक्षेपापमानं भयं
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरमब्रह्मस्मृतावन्वहं ॥ ४ ॥

अर्थ—जिससमय मैं शुद्धचिद्रूपके चिंतवनमें लीन हों उससमय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरंतर शाप देवैं दो, मेरी चीज चुरायैं, चुराओ, मेरे शरीरके टुकड़े टुकड़े करैं, मारैं, ताड़ैं, छेदैं, मेरे रोग उत्पन्न कर, हंसी करैं जलावैं, निंदाकरैं आपत्ति और पीडा करै, करो, शिरपर वज्र डालें, डालो, अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कूआ, वन और पृथ्वीपर फैके, फैंको अपमान और भय करैं करो मेरा कुछ विगाड़ नहिं हो सकता अर्थात् वे मेरी आत्माको किसीप्रकार भी हानि नहिं पहुंचा सकते ॥ ४ ॥

चंद्रार्कभ्रमवत्सदा सुरनदीधारौघसंपातव—
ल्लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद्द्रव्यस्य पर्यायवत्।

लोकाधस्तलवातसंगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्
चिद्रूपस्मरणं निरंतरमहो भूयाच्छिवाप्त्यै मम ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार संसारमें सूर्य चंद्रमा निरंतर घूमते रहते हैं, गंगा नदीकी धार निरंतर वहतीं रहती है, घंटा घड़ी पल आदि व्यवहार कालका भी सदा हेर फेर होता रहता है, द्रव्योंकी पर्यायें सदा पलटती रहती हैं, लोकके अधोभागमें घनवात तनुवात अंबुवात ये तीनों वातें सदा घूमती रहती हैं, और तालाब आदिमें पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार मेरे मनमें भी सदा शुद्धचिद्रूपका स्मरण बना रहै जिससे मेरा कल्याण हो॥५॥

इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु ।
द्रव्यतो भावतस्तावद् यावदंगे स्थितिर्मम ॥ ६ ॥

अर्थ—जबतक मैं (आत्मा) द्रव्य या भाव किसी रीतिसे इस शरीरमें मौजूद हूं तब तक मेरे हृदयकमलमें शुद्धचिद्रूपोऽहं (मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं) यह बात सदा स्थित रहै । रक्त मज्जा आदि धातुओंका पिंडस्वरूप द्रव्यशरीर है और वह मेरा है ऐसा संकल्प भावशरीर है ॥ ६ ॥

दृश्यंतेऽतीव निःसाराः क्रिया वागंगचेतसां ।

कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता ॥ ७ ॥

अर्थ—मैं कृतकृत्य हो चुका हूं-संसारमें मुझे करनेकेलिये कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूपके चिंतवनमें दत्तचित्त हूं इसलिये मन वचन और शरीरकी अन्य समस्त क्रियायें मुझे अत्यंत निस्सार मालूम पड़ती हैं उनमें कोई सार दृष्टिगोचर नहिं होता ॥ ७ ॥

किंचित्कदोत्तमं क्वापि न यतो नियमान्नमः ।
तस्मादनंतशः शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणं ॥ ८ ॥

अर्थ—किसी काल और देशमें शुद्धचिद्रूपसे बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है ऐसा मुझे पूर्ण निश्चय है इसलिये मैं इस शुद्धचिद्रूपके लिये प्रतिसमय अनंत बार नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

वाह्यांतःसगमंगं नृसुरपतिपदं कर्मबंधादिभावं
विद्याविज्ञानशोभावलभवखसुखं कीर्तिरूपप्रतापं ।
राज्यागाख्यागकालास्रवकुपरिजनं वाग्मनोयानधीद्धा-
तीर्थेशत्वं ह्यनित्यं स्मर परमचलं शुद्धचिद्रूपमेकं ॥ ९ ॥

अर्थ—बाह्य अभ्यंतर परिग्रह, शरीर, सुरेंद्र और नरेंद्रका पद, कर्मबंध आदि भाव, विद्या, विज्ञान-कला कौशल, शोभा, बल, जन्म, इंद्रियोंका सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, वृक्ष, नाम, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन, वाहन, बुद्धि, दीप्ति, तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं परंतु केवल शुद्ध-चिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है इसलिये सब पदार्थोंका ध्यान छोड़कर इसीका ध्यान करो। भावार्थ—जो पदार्थ सदा अपने साथ रहे उसीका ध्यान करना आवश्यक और उचित है, विनाशीक पदार्थोंके ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन ? क्योंकि वह तो अपनी अवधिके अंतमें नियमसे नष्ट होजायंगे इसलिये उनका ध्यान करना व्यर्थ है और शुद्धचिद्रूप नित्य अविनाशी है इसलिये उसीका ध्यान करना कार्यकारी है ॥ ९ ॥

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥ १० ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भलेप्रकार जानकर भले बुरे किसी भी पदार्थमें राग द्वेष आदि न करो सबमें समताभाव रक्खो और निराकुल हो अपनी आत्मामें स्थिति करो ॥ १० ॥

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं शुद्धचिद्रूप हूं इसलिये मैं उसको देखता हूं और उसीसे मुझै सुख मिलता है जैन शास्त्रका भी यही निचोड़ है-उसमें भी यही बात बतलाई है कि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे संसारका नाश और हितकारी मोक्ष प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥ १२ ॥

अर्थ—आत्मा स्वस्थ-स्वरूप उसीसमय कहा जाता है जब कि वह सदा आनंदमय केवल अपने शुद्धचिद्रूपमें स्थिति करता है अन्य पदार्थोंमें स्थित रहनेपर उसै स्वमें स्थित स्वस्थ कहना भ्रम है । भावार्थ—स्वस्थका अर्थ स्वस्मिन् तिष्ठतीति) अपनेमें स्थित रहनेवाला होता है। संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके अन्य कोई भी पदार्थ आत्माका अपना स्व नहीं इसलिये सदा आनंदमय केवल शुद्धचिद्रूपमें स्थित रहना ही स्वस्थपना है किंतु स्वर्ग देवेंद्र आदि पदोंमें विद्यमान आत्माको स्वस्थ नहिं कह सकते ॥ १२ ॥

निश्चलः परिणामोऽस्तु स्वशुद्धचिति मामकः ।
शरीरमोचनं यावदिव भूमौ सुराचलः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें मेरु पर्वत निश्चलरूपसे गड़ा हुआ है जरा भी उसे कोई हिला चला नहिं सकता उसीप्रकार मेरी भी यही कामना है, कि जबतक इस शरीरका संबंध नहिं छूटता तबतक इसी आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें मेरा भी परिणाम निश्चल रूपसे स्थित रहै जरा भी इधर उधर न भटके ॥ १३ ॥

सदा परिणतिर्मेऽस्तु शुद्धचिद्रूपकेऽचला।
अष्टमीभूमिकामध्ये शुभा सिद्धशिला यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार आठवीं पृथ्वी मोक्षमें अत्यंत शुभ सिद्धशिला निश्चल रूपसे विराजमान है उसीप्रकार मेरे मनकी परिणति भी इस शुद्धचिद्रूपमें निश्चल रूपसे स्थित रहो ॥ १४ ॥

चलंति सन्मुनींद्राणां निर्मलानि मनांसि न।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात् सिद्धक्षेत्राच्छिवा यथा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कल्याणकारी सिद्ध क्षेत्रसे सिद्ध भगवान् किसी रीतिसे चलायमान नहिं होसकते उसी-प्रकार उत्तम मुनियोंके निर्मल मन भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे कभी चल विचल नहिं हो सकते ॥ १५ ॥

मुनीश्वैरैस्तथाभ्यासो दृढः सम्यग्विधीयते।

मानसं शुद्धचिद्रूपे यथाऽत्यंतं स्थिरीभवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—मुनिगण इसरूपसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानका दृढ़ अभ्यास करते हैं कि उनका मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें सदा निश्चलरूपसे स्थित बना रहै, जरा भी इधर उधर चल विचल न हो सके ॥ १६ ॥

सुखे दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।
चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिंतनं ॥ १७ ॥

अर्थ—सुख दुःख उग्र रोग और भूंख प्यास आदिके भयंकर उपद्रवोंमें तथा मनुष्यकृत देवकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चारो प्रकारके उपसर्गोंमें मैं शुद्धचिद्रूपका ही चिंतवन करता रहूं-मुझै उनके उपद्रवसे उत्पन्न वेदनाका जरा भी अनुभव न हो ॥ १७ ॥

निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे ।
चिद्रूपे तेन सोढानि महादुःखान्यहो मया ॥ १८ ॥

अर्थ—इससंसारमें मैं अनादिकालसे घूम रहा हूं। हाय! मैंने कभी भी शुद्धचिद्रूपमें अपना मन निश्चलरूपसे न लगाया इसलिये मुझे अनंते दुःख भोगने पड़े-अर्थात् यदि में संसारके कार्योंसे अपना मन हटाकर शुद्धचिद्रूपमें लगाता तो क्यों मुझे अपार वेदना सहनी पड़तीं ॥ १८ ॥

ये याता यांति यास्यंति निर्वृतिं पुरुषोत्तमाः ।
मानसं निश्चलं कृत्वा स्वे चिद्रूपे न संशयः ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुषोत्तम–महात्मा मोक्ष गये वा जारहे हैं और जावेंगे इसमें कोई संदेह नहीं उन्होंने अपना मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें निश्चलरूपसे लगाया लगाते हैं और लगावेंगे। भावार्थ–विना शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें चित्त लगाये मोक्ष कदापि नहिं मिलसकती इसलिये जिन्होंने शुद्ध चिद्रूपमें अपना मन लगाया वे मोक्ष गये मन लगा रहे हैं वे जारहे हैं और जो मन लगावेंगे वे अवश्य जावेंगे इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं ॥ १९ ॥

निश्चलोऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग् ॥ २० ॥

इति मुमुक्षुभट्टारक ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणनिश्चलताप्रतिपादको नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिससमय निश्चल मनसे यह स्मरण किया जाता है, कि 'मैं शुद्धचित्रूप हूं' भाव मोक्ष उसीसमय हो जाती है और द्रव्य मोक्ष क्रम क्रमसे होती चली जाती है। भावार्थ–स्व और पर पदार्थोंका भेदविज्ञान होनां भावमोक्ष है और शरीर आदिसे सर्वथा रहित हो सिद्ध शिलापर आत्माका जा विराजना द्रव्यमोक्ष है। जिससमय

संसारसे सर्वथा उदासीन हो मैं शुद्धचिद्रूप हूं ऐसा निश्चल स्मरण किया जाता है भावमोक्ष उसीसमय होजाती है और ज्यों २ कर्मोंका नाश, शरीर आदिसे रहितपना होता जाता है त्यों त्यों द्रव्य मोक्ष होती चली जाती है॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेकी निश्चलताको बतलानेवाला छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवां अध्याय।

न यामि शुद्धचिद्रूपे लयं यावदहं दृढं।
न मुंचामि क्षणं तावद् व्यवहारावलंबनं ॥ १ ॥

अर्थ—जबतक मैं दृढ़रूपसे शुद्धचिद्रूपमें लीन न हो जाऊं तबतक मैं व्यवहार नयका सहारा नहिं छोड़ सकता-व्यवहार नयको अवश्य काममें लाऊंगा। भावार्थ—जबतक 'मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं' ऐसा मुझे भलेप्रकार ज्ञान नहि होता तबतक निश्चय व्यवहार दोनों ही नय कार्यकारी हैं, उसके ज्ञानके पहिले किसी एक नयसे कार्य चलालें यह कदापि नहिं हो सकता परंतु जिससमय वास्तविक शुद्धचिद्रूपका ज्ञान हो जाय उससमय व्यवहारनय

माननेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि व्यवहारनयसे जप तप आदि करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और उसमें लीनता होती है-व्यवहारनय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें कारण है इसलिये शुद्धचिद्रूपमें विना लीनता हुये व्यवहारनय-का सर्वथा त्याग करदेना नितांत मिथ्यात्व है ॥ १ ॥

अशुद्धं किल चिद्रूपं लोके सर्वत्र दृश्यते ।
व्यवहारनयं श्रित्वा शुद्धं बोधदृशा क्वचित् ॥ २ ॥

अर्थ—व्यवहारनयके अवलंबनसे सर्वत्र संसारमें अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टि गोचर होता है निश्चयनयसे शुद्ध तो कहीं किसी आत्मामें दीखता है। भावार्थ—व्यवहारनयके अवलंबनसे चिद्रूप कभी शुद्ध हो ही नहिं सकता किंतु शुद्धनिश्चयके अवलंबन से ही वह शुद्ध हो सकता है इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे व्यवहारनयके साथ शुद्धनिश्चयनयकी ओर विशेषरूपसे अपनी दृष्टिको लगावें ॥ २ ॥

चिद्रूपे तारतम्येन गुणस्थानाच्चतुर्थतः ।
मिथ्यात्वाद्युदयाद्याख्यमलापायाद् विशुद्धता ॥ ३ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें चढ़नेवाले जीवोंके चौथे गुणस्थानसे मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व और अनंता-

नुबंधी क्रोध मान माया लोभरूप मलोंका ज्यों २ नाश होता जाता है वैसा ही चैस द्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है-विना मिथ्यात्व आदि मलोंके नाश किये चिद्रूप कभी विशुद्ध नहिं हो सकता ॥ ३ ॥

मोक्षस्वर्गार्थिनां पुंसां तात्त्विकव्यवहारिणां ।
पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जुदे २ नगरके जानेवाले पथिकोंके मार्ग जुदे २ होते हैं उसीप्रकार जो व्यवहारका कार्य समाप्तकर निश्चयकी ओर झुकनेवाले हैं और मोक्ष जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है और जो व्यवहारमार्ग के अनुयायी हैं और स्वर्ग जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है ॥ ४ ॥

चिंताक्लेशकषायशोकवहुले देहादिसाध्यात्परा-
धीने कर्मनिबंधनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते ।
व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वा व्रजात्मन् सदा
शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते ॥ ५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह व्यवहार मार्ग चिंता क्लेश कषाय और शोकसे जटिल है । देह आदि द्वारा साध्य

होनेसे पराधीन है। कर्मोंके लानेमें कारण है। अत्यंत विकट भय एवं आशासे व्याप्त है और व्यामोह कराने वाला है परंतु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गमें यह कोई विपत्ति नहीं है इसलिये तू व्यवहारनयको त्यागकर शुद्धनिश्चयनय रूप मार्गका अवलंबन कर क्योंकि यह इस लोककी क्या बात ? परलोकमें भी सुखका देनेवाला है और समस्त दोषोंसे रहित निर्दोष है। भावार्थ—व्यवहारनयरूप मार्गमें गमन करनेसे नाना प्रकारकी चिंतायोंका भांति २ के क्लेश कषाय और शोकोंका सामना करना पड़ता है। उसमें देह इंद्रियां मन आदिकी आवश्यकता पड़ती है इस लिये वह पराधीन है। शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्म भी व्यवहारनयके अवलंबनसे ही आते हैं। अत्यंत विषम है। उसके अनुयायी पुरुषोंको नानाप्रकारके भय और आशाओंसे उत्पन्न दुःख भोगने पड़ते हैं और भ्रांत होना पड़ता है परंतु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गमें गमन करनेसे चिंता क्लेश आदि नहिं भोगने पड़ते, वह स्वधीन है—उसमें शरीर आदिकी आवश्यकता नहिं पड़ती। उसके अवलंबनसे किसी प्रकारके कर्मका भी आस्रव नहिं होता। वह विकट और भय आशाजन्य दुःख भी नहिं भुगाता एवं व्यामुग्ध भी नहिं करता तिसपर भी दोनों लोकमें सुख देनेवाला और निर्दोष है इसलिये ऐसे भयंकर व्यवहार मार्गको त्यागकर सर्वोत्तम निश्चय मार्गसे ही गमन करना चाहिये ॥ ५ ॥

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः ।

न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचिन्मयस्य ममः सदैव ॥ ६ ॥

अर्थ—मेरा मन शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये उत्सुक है इसलिये न तो संसारमें मुझे पदार्थोंकी आवश्यकता है और न शिष्यगण पुस्तक और देह आदिसे ही कुछ प्रयोजन है एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्धचिद्रूपमें ही लीन रहे सिवाय शुद्धचिद्रूपके, अन्य किसी पदार्थमें रत भी न जाय ॥ ६ ॥

न चेतसा स्पर्शमहं करोमि सचेतनाचेतनवस्तुजाते ।
विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यं ॥ ७ ॥

अर्थ—मेरी यह कामना है कि शुद्धचिद्रूप नामक पदार्थको छोड़कर मैं किसी भी चेतन वा अचेतन पदार्थका किसी देश और किसी कालमें कभी भी अपने मनसे स्पर्श न करूं । भावार्थ—मैं जब किसी पदार्थका चिन्तवन करूं तो शुद्धचिद्रूपका ही करूं शुद्धचिद्रूपसे अतिरिक्त किसी पदार्थका चाहे वह चेतन अचेतन कैसा भी हो कभी किसी कालमें भी न करूं ॥ ७ ॥

व्यवहारं समालंब्य येऽक्षि कुर्वन्ति निश्चयं ।

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषामेवेतरस्य न ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहारनयका अवलंबनकर जो महानुभाव अपनी दृष्टिको शुद्धनिश्चयनयकी ओर लगाते हैं उन्हें ही संसारमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है अन्य मनुष्योंको शुद्धचिद्रूपका लाभ कदापि नहिं हो सकता ॥ ८ ॥

संपर्कात् कर्मणोऽशुद्धं मलस्य वसनं यथा ।
व्यवहारेण चिद्रूपं शुद्धं तन्निश्चयाश्रयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार निर्मल भी वस्त्र मैलसे मलिन-अशुद्ध होजाता है उसीप्रकार व्यवहार नयसे कर्मके संबंधसे शुद्ध भी चिद्रूप अशुद्ध है परंतु शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे वह शुद्ध ही है ॥ ९ ॥

अशुद्धं कथ्यते स्वर्णमन्यद्रव्येण मिश्रितं ।
व्यवहारं समाश्रित्य शुद्धं निश्चयतो यथा ॥ १० ॥
युक्तं तथाऽन्यद्रव्येणाशुद्धं चिद्रूपमुच्यते ।
व्यवहारनयात् शुद्धं निश्चयात् पुनरेव तत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार व्यवहारनयसे शुद्ध भी सोना अन्यद्रव्यके मेलसे अशुद्ध और निश्चयनयसे शुद्ध कहा

जाता है उसीप्रकार शुद्ध भी चिद्रूप, कर्म आदि निकृष्ट द्रव्योंके संबंधसे व्यवहारनयकी अपेक्षा अशुद्ध कहा जाता है और वही शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है। भावार्थ—वस्तु जैसी होती है वह वैसी ही रहती है उसमें शुद्धता अशुद्धता नहिं हो सकती परंतु व्यवहारसे दूसरी वस्तुके मेलसे वह अशुद्ध कह दी जाती है। जिसप्रकार सोना कभी शुद्ध अशुद्ध नहिं हो सकता वह वही रहता है। परंतु किसी उसके मिलतऊ पदार्थके मेल होजानेसे व्यवहारसे उसे अशुद्ध कहदेते हैं और निश्चयनयसे शुद्ध भी कहते हैं उसीप्रकार चिद्रूप भी कर्म आदिके संबंधके कारण व्यवहारसे अशुद्ध कह दिया जाता है परंतु वह वास्तवमें शुद्ध ही है ॥ १० ॥ ११ ॥

वाह्यांतरन्यसंपर्को येनांशेन वियुज्यते।
तेनांशेन विशुद्धिः स्यात् चिद्रूपस्य सुवर्णवत् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वाहिर भीतर किसी भी सुवर्णके अंशका अन्य द्रव्यसे संबंध छूट जाता है तो वह उतने अंशमें शुद्ध कहा जाता है उसीप्रकार चिद्रूपके भी जितने अंशसे कर्म मलका संबंध नष्ट हो जाता है उतने अंशमें वह शुद्ध कहा जाता है ॥ १२ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतारोहणं सुधीः।
कुर्वन् करोति सुदृष्टिर्व्यवहारावलंबनं ॥ १३ ॥

आरुह्य शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वतमुत्तमं ।
तिष्ठेद् यावत्त्यजेत्तावद् व्यवहारावलंबनं ॥ १४ ॥

अर्थ—विद्वान मनुष्य जबतक शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी पर्वतपर आरोहण करता है तबतक तो व्यवहारनयका अवलंबन करता है परंतु ज्योंही शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी विशाल पर्वतपर चढ़कर वह निश्चलरूपसे विराजमान हो जाता है उसीसमय व्यवहारनयका सहारा सर्वथा छोड़देता है। भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपका ध्यान करै तबतक व्यवहारनयका सहारा रक्खे किंतु जिससमय उसके ध्यानमें पूर्णरूपसे लीन होजाय-चल विचल परिणाम होनेका भय न रहै उससमय सर्वथा व्यवहारनयका सहारा छोड़ दे॥ १३ ॥ १४ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतादवरोहणं ।
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबनं ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजनके लिये शुद्धचिद्रूपके निश्चलध्यानरूपी पर्वतसे उतरना होजाय ध्यानकरना छोड़ना पड़े तो उससमय भी व्यवहारनयका नियमसे अवलंबन रक्खे-उससमय यदि व्यवहारनयका अवलंबन न होगा तो भ्रष्टपना आसकता है॥ १५ ॥

याता यांति च यास्यंति ये भव्या मुक्तिसंपदं ।
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्च निश्चयं ॥ १६ ॥
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयं ।
व्यवहारं कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मोक्षरूपी संपत्तिको प्राप्त हो गये, होरहे हैं और होवेंगे उन सबने पहिले व्यवहारनयका अवलंबन किया है क्योंकि विना कारणके कार्य कदापि नहिं हो सकता। व्यवहारनय कारण है और निश्चयनय, कार्य है इसलिये विना व्यवहारके निश्चय भी कदापि नहि हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च ।
निश्चयं व्यवहारं तन्नयं भज यथाविधि ॥ १८ ॥

अर्थ—व्यवहार और निश्चयनयका जैसा स्वरूप बतलाया है उसीप्रकार उसे जानकर उनका इसरीतिसे अवलंबन करना चाहिये जिससे कि जैन शास्त्रोंमें विश्वास और भगवान जिनेंद्रसे उक्त चारित्रमें भक्ति बनी रहे॥१८॥

व्यवहारं विना केचिन्नष्टा केवलनिश्चयात् ।

निश्चयेन विना केचित्केवलव्यवहारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य तो संसारमें व्यवहारका सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्धनिश्चयनयके अवलंबनसे नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और बहुतसे निश्चयनयको छोड़कर केवल व्यवहारका ही अवलंबन कर नष्ट होजाते हैं। भावार्थ— संसारमें प्राणियोंकी रुचि भिन्न भिन्न रूपसे होती है बहुतसे मनुष्य तो केवल शुद्धनिश्चयावलंबी हो मनमें यह दृढ़ संकल्पकर कि हमारा आत्मा सिद्ध-शुद्ध है वह बुरा भला कुछ नहिं करता जो कुछ करता है सो जड़ शरीर ही करता है और उससे हमै कोई संबंध नहीं, भ्रष्ट होजाते हैं और चारित्रको सर्वथा जलांजलि दे उन्मार्गगामी बन नाना प्रकारके अत्याचार करने लगजाते हैं तथा अनेक मनुष्य केवल व्यवहारनयका ही अवलंबनकर क्रिया कांडोंमें ही उलझे रहजाते हैं और निश्चयनयकी ओर झांककर भी नहिं देखते इसलिये मोक्षके पात्र न होनेसे वे भी भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोकनं ।
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः ॥ २० ॥

अर्थ—जिसप्रकार एक नेत्रसे भलेप्रकार पदार्थोंका अवलोकन नहिं होता दोनों ही नेत्रोंसे पदार्थ भलेप्रकार

दीख सकते हैं उसीप्रकार एकनयसे कभी कार्य नहिं चलसकता व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंसे ही निर्दोष-रूपसे कार्य हो सकता है ऐसा स्याद्वादमतके धुरंधर विद्वानोंका मत है ॥ २० ॥

निश्चयं क्वचिदालंब्य व्यवहारं क्वचिन्नयं ।
विधिना वर्त्तते प्राणी जिनवाणीविभूषितः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो जीव भगवान जिनेंद्रकी वाणीसे भूषित हैं उनके वचनोंपर पूर्णरूपसे श्रद्धान रखने वाले हैं वे कहीं व्यवहारनयसे काम चलाते हैं और कहीं निश्चयनयका सहारा लेते हैं। अर्थात् जहां जैसा अवसर देखते हैं वहां वैसा ही उसी नयको आश्रयकर कार्य करते हैं ॥ २१ ॥

व्यवहाराद्बहिः कार्यं कुर्याद्विधिनियोजितं ।
निश्चयं चांतरं धृत्वा तत्त्ववेदी सुनिश्चलं ॥ २२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव तत्वज्ञानी हैं भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं वे अंतरंगमें भलेप्रकार निश्चयनयको धारण कर व्यवहारनयसे अवसर देखकर वाह्यमें कार्यका संपादन करते हैं। अर्थात् दोनों नयोंको काममें लाते हैं एक नयसे कोई काम नहिं करते ॥ २२ ॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यतां।
नयादिरहितं शुद्धचिद्रूपं तदनंतरं ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणाय नयावलंबनप्रतिपादकः सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नयोंके अधीन है पश्चात् शुद्धचिद्रूपके प्राप्त हुये बाद नयोंके अवलंबनकी कोई आवश्यकता नहीं। भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं होती तबतक नयोंसे काम है परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके बाद कोई नय कार्यकारी नहीं उससमय नयोंकी अपेक्षाके विना ही शुद्धचिद्रूप प्रकाशमान रहता है॥२३॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेके लिये नयोंके आश्रयको वर्णन करनेवाला सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवां अध्याय।

छेत्रीसूचीक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूषयंत्रै-
स्तुल्या पाथःकतकफलवद्धंसपक्षिस्वभावा।

शस्त्रीजायुस्वधितिसदृशा टंकवैशाखवद्वा
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस महानुभावकी बुद्धि छैनी सुई आरा पवन सीसा अग्नि ऊपयंत्र (कोलू) कतकफल (फिटकरी) हंसपक्षी, छुरी, जायु, दांता, टांकी और वैशाखके समान जड़ और चेतनके भेद करनेमें समर्थ होगई है उसी महानुभावको चिद्रूपकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–जिसप्रकार छैनी, सुई, आरा, मिले हुये पदार्थके दो टुकड़े कर देते हैं। पवन गंधको जुदा उड़ाकर लेजाता है। सीसा सोने चांदीको शुद्ध करदेता है। अग्नि, सोना आदिको मैलसे शुद्ध करदेती है। कोलू, ईखके रसको जुदा करदेता है। छुरी आदि, मिले हुये पदर्थके टुकड़े टुकड़े कर-डालते हैं उसीप्रकार जिस महानुभावकी बुद्धिने भी अनादिकालसे एकमएक जड़ और चेतनको जुदा जुदा कर पहिचान लिया है वही चिद्रूपका लाभ कर सकता है अन्य नहीं ॥ १ ॥

स्वर्ण पाषाणसूताद्वसनमिव मलात्ताम्ररूप्यादि हेम्नो
वा लोहादग्निरिक्षो रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात्।
ताम्रं तैलं तिलादे रजतमिव किलोपायतस्ताम्रमुख्यात्

दुग्धान्नीरं घृतं च क्रियत इव पृथक् ज्ञानिनात्मा शरीरात् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्णपाषाणसे सोना भिन्न किया जाता है, मैलसे वस्त्र, सोनेसे तांबा चांदी आदि पदार्थ, लोहसे अग्नि, ईखसे रस, कीचड़से जल, केकी (मयूर) के पंखसे तांबा, तिल आदिसे तैल, तांबा आदि धातुओंसे चांदी, और दूधसे जल एवं घी जुदा करलिया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है-जड़ चेतनका वास्तविक ज्ञान रखता है वह शरीरसे आत्माको जुदा कर पहिचानता है । भावार्थ-मोक्ष अवस्थाके पहिले आत्मा और शरीरका संबंध अनादिकालसे है। ऐसा कोई भी अवसर प्राप्त न हुआ जिसमें शरीर और आत्मा सर्वथा जुदे हुये हों तथा अज्ञानियोंको शरीर और आत्मा दोनों एक ही जान पड़ते हैं, उन्हें भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं। परंतु ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अवश्य भेद है क्योंकि जिसप्रकार अनादिकालसे मिले हुये सोनेके पाषाण और सोनेको, मैल और वस्त्रको, तांबा और चांदी सोनेको, लोह और अग्निको, ईख और उसके रसको, कीचड़ और पानीको, मौरके पंख और तांबेको, तिल तैलको, तांबा आदि धातु और चांदीको, क्षीर नीर व घीको सर्वथा जुदा जुदा कर जान लिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानी भी शरीर और आत्माको सर्वथा जुदा जुदा कर पहिचानता है ॥ २ ॥

देशं राष्ट्रं पुराद्यं स्ववनजनकुलं वर्णपक्षं स्वकीय-

ज्ञातिं संबंधिवर्गं कुलपरिजनकं सोदरं पुत्रजाये ।
देहं हृद्वाग्विभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनि भित्त्वा
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥ ३ ॥

अर्थ—देश, राष्ट्र, पुर गांम, जनसमुदाय, धन, वन, ब्राह्मण आदि वर्णोंका पक्षपात, जाति, संबंधी, कुल, परिवार, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय, और वाणी ये सब पदार्थ विकारके करनेवाले हैं इनको अपना मानकर स्मरण करनेसे ही चित्त, शुद्धचिद्रूपकी ओरसे हट जाता है-चंचल हो उठता है तथा मैं करता और कारण आदि हूं इत्यादि कारकोंके स्वीकार करनेसे भी चित्तमें चल विचलता उत्पन्न होजाती है इसलिये स्वाभाविक गुणोंके भंडार शुद्धचिद्रूपको ही मैं निर्विभागरूपसे-कर्ता कारणका कुछ भी भेद न कर स्मरण मनन ध्यान करता हूं। भावार्थ—चित्तमें किसीप्रकारकी चंचलताका न आना-परिणामोंका आकुलतामय न होना ही परम सुख है मैं देखता हू जिससमय देश राष्ट्र पुर कुल जाति परिवार आदिका विचार किया जाता है उनके रहन सहनपर ध्यान दिया जाता है तो मेरा चित्त आकुलतामय होजाता है रंचमात्र भी परिणामोंको शांति नहिं मिलती परंतु शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेसे चित्तमें किसी प्रकारकी खट खट नहिं होती एकदम शांतिका संचार होने लग जाता है इसलिये समस्त जगतके जंजालको छोड़कर मैं शुद्धचिद्रूपका ही स्मरण करता हूं उसीसे मेरा कल्याण होगा ॥३॥

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्लेश (पिपासा) की शांतिके लिये जलके ऊपर पुरी हुई काईको अलगकर शीतल सुरस निर्मल जल पीया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं दुःखोंसे दूर होना चाहते हैं वे समस्त संसारके विकल्प जालोंको छोड़कर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृतका पान करते हैं-अपने चित्तको द्रव्य आदिकी चिंताकी ओर नहिं झुकने देते ॥ ४ ॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इस आत्मध्यानसे बढ़कर न तो कहीं किसी कालमें कोई सुख है न तप है और न मोक्ष ही है अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है इसलिये इसीको परम कल्याणका कर्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।

मन्यंते सफलं सुजन्म मुदिता मोहाविभूता नरा
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मोहके मदमें मत्त बहुतसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त होनेसे ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इंद्रियजन्य सुख, सुंदर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनोंकी प्राप्तिसे अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतोंको बल उत्तममित्र विद्वत्ता और मनोहररूप आदिकी प्राप्तिसे संतोष होजाता है परंतु मैं आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे अपना जन्म सफल मानता हू। भावार्थ– यह जीव अनादि कालसे इस संसारमें घूम रहा है कई बार इसै कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन पुत्र और सेवक प्राप्त होचुके हैं। बहुत बार यह स्वामी-राजा भी होगया है। इसै उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान, और रूप आदिकी भी अनेकबार प्राप्ति होचुकी है। परंतु मोहके जालमें फंसनेके कारण इसै जरा भी होश नहिं होता और पुनः पुत्र आदिकी प्राप्तिसे अपने जन्मको कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझै संसारके चरित्रके भलेप्रकार ज्ञानसे इनकी प्राप्तिसे किसीप्रकारका संतोष नहिं होता इसलिये मै भेदविज्ञानसे ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूं॥ ६ ॥

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।
भेदविज्ञानवज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥ ७ ॥

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्लेश (पिपासा) की शांतिके लिये जलके ऊपर पुरी हुई काईको अलगकर शीतल सुरस निर्मल जल पीया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं दुःखोंसे दूर होना चाहते हैं वे समस्त संसारके विकल्प जालोंको छोड़कर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृतका पान करते हैं-अपने चित्तको द्रव्य आदिकी चिंताकी ओर नहिं झुकने देते ॥ ४ ॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इस आत्मध्यानसे बढ़कर न तो कहीं किसी कालमें कोई सुख है न तप है और न मोक्ष ही है अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है इसलिये इसीको परम कल्याणका कर्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।

मन्यंते सफलं सुजन्म मुदिता मोहाविभूता नरा
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मोहके मदमें मत्त बहुतसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त होनेसे ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इंद्रियजन्य सुख, सुंदर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनोंकी प्राप्तिसे अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतोंको बल उत्तममित्र विद्वत्ता और मनोहररूप आदिकी प्राप्तिसे संतोप होजाता है परंतु मैं आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे अपना जन्म सफल मानता हू। भावार्थ– यह जीव अनादि कालसे इस संसारमें घूम रहा है कई बार इसै कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन पुत्र और सेवक प्राप्त होचुके हैं। बहुत बार यह स्वामी-राजा भी होगया है। इसै उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान, और रूप आदिकी भी अनेकवार प्राप्ति होचुकी है। परंतु मोहके जालमें फंसनेके कारण इसै जरा भी होश नहिं होता और पुनः पुत्र आदिकी प्राप्तिसे अपने जन्मको कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझै संसारके चरित्रके भलेप्रकार ज्ञानसे इनकी प्राप्तिसे किसीप्रकारका संतोप नहिं होता इसलिये मैं भेदविज्ञानसे ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूं ॥ ६ ॥

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।
भेदविज्ञानवज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥ ७ ॥

अर्थ—आत्मारूपी भूमिमें कर्मरूपी अभेद्य पर्वत, तभीतक निश्चलरूपसे स्थिर रह सकते हैं जबतक भेदविज्ञान-रूपी वज्र इनके मस्तकपर पड़कर इन्हें चूर्ण चूर्ण नहीं कर डालता। भवार्थ—जबतक भेदविज्ञान नहिं होता तभी तक कर्म आत्माके साथ लगे रहते हैं परंतु भेदविज्ञान होते ही कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥ ८ ॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः ।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चिद्रूपमें प्रेम करानेवाला है वह संसारमें दुर्लभ है उससे भी दुर्लभ चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त होजाय तो चिद्रूपके स्वरूपका उपदेशक गुरु नहिं मिलता इसलिये उससे गुरुकी प्राप्ति दुर्लभ है गुरु भी प्राप्त होजाय तो जिसप्रकार चिंतामणि रत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है उसी-प्रकार भेदविज्ञानकी प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है। भावार्थ—प्रथम तो चिद्रूपके ध्यानमें रुचि नहिं होती यदि रुचि होजाय तो चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र नहिं मिलता कदाचित् शास्त्र प्राप्त होजाय तो उसका

उपदेशक गुरु नहिं प्राप्त होता गुरुकी प्राप्ति होजाय तो भेदविज्ञानकी प्राप्ति जल्दी नहिं होती इसलिये भेद-विज्ञानकी प्राप्ति सबसे दुर्लभ है ॥ ८ ॥ ९ ॥

भेदो विधीयते येन चेतनाद्देहकर्मणोः ।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मासे देह और कर्मका तथा देह एवं कर्मसे उत्पन्न हुई विक्रियाओंका भेद जाना जाय उसै भेदज्ञान कहते हैं ॥ १० ॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपःश्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥ ११ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति विना भेदविज्ञानके कदापि नहिं हो सकती इसलिये तपस्वी वा श्रुतज्ञानी किसी महानुभावने विना भेदविज्ञानके आजतक कहीं भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति न कर पाई न करही सक्ता है जिसने शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकी है उसने भेदविज्ञानसे ही की है ॥ ११ ॥

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।

क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्नि देखते देखते तृणोंके समूहको जलाकर खाक करदेती है उसीप्रकार जो भेदविज्ञानी है वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करनेवाळे कर्मसमूहको क्षणभरमें समूल नष्ट करदेता है-भेदविज्ञानीकी आत्माके साथ किसी प्रकारके कर्मका संवंध नहिं रहता ॥ १२ ॥

अछिन्नधारया भेदवोधनं भावयेत् सुधीः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो महानुभाव समस्त शास्त्रोंमें विशारद है और शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका अभिलाषी है उसे चाहिये कि वह एकाग्र हो भेदविज्ञानकी ही भावना करे-भेदविज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थमें ध्यान न लगावे ॥१३॥

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मवोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥ १४ ॥

अर्थ—अपने-आत्माके ज्ञानसे संवर और निर्जराकी प्राप्ति होती है आत्माका ज्ञान भेदविज्ञानसे होता है इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदज्ञानकी ही भावना करे । भावार्थ—संवर (कर्मोंके आगमनका रुक

जाना) और निर्जरा (क्रम २ से अवशिष्ट कर्मोंका क्षय होना) की प्राप्ति के बाद मोक्षकी प्राप्ति होती है संवर और निर्जराका लाभ आत्मज्ञानसे होता है और आत्मज्ञान भेदज्ञानसे होता है इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदविज्ञानको सबमें कार्यकारी जान उसीकी भावना करै ॥ १४ ॥

लब्धा वस्तुपरीक्षा च शिल्पादिसकला कला ।
बह्वी शक्तिर्विभूतिश्च भेदज्ञप्तिर्न केवला ॥ १५ ॥

अर्थ—इस संसारके अंदर अनेक पदार्थोंकी परीक्षा करना भी सीखा। शिल्प आदि अनेक प्रकारकी कलायें भी हासिल कीं। बहुतसी शक्तियां और विभूतियां भी प्राप्त कीं। परंतु भेदविज्ञानका लाभ आजतक न हुआ ॥ १५॥

चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्न बुध्यते ।
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभंजनात् ॥ १६ ॥

अर्थ—शरीर और आत्माके भेदविज्ञानरूपी महापवनके सामने, चिद्रूपके स्वरूपको ढकनेवालीं मोहकी रेणुयें न मालूम कहां किनारा कर जाती हैं ? भावार्थ—जिसप्रकार जबतक बलवान पवन नहिं चलती तभीतक धूलिके रेणु इकट्ठा रहते हैं किंतु पवनके चलते ही उनका पता तक नहिं लगता उसीप्रकार जबतक शरीर और

आत्माका भेदविज्ञान नहिं होता-वे जुदे जुदे नहिं जान लिये जाते तभी तक मोहका पर्दा आत्माके ऊपर पड़ा रहता है परंतु भेदविज्ञानके प्राप्त होते ही वह एक दम लापता होजाता है-अन्वेषण करनेपर भी उसका जरा भी खोज नहिं चलता ॥ १६ ॥

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥ १७ ॥

अर्थ—यह भेदविज्ञान, शुद्धचिद्रूपके दिखानेमें जाज्वल्यमान दीपक है और अनादिकालसे विद्यमान मोहरूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेवाला है। भावार्थ—जिसप्रकार दीपकसे घट पट आदि पदार्थ स्पष्टरूपसे दीखते हैं और अंधकारका नाश होजाता है उसीप्रकार भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका भलेप्रकार दर्शन होता है और मोहरूपी गाढ़ अंधकार भी बहुत शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ १७ ॥

भेदविज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते ।
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितं ॥ १८ ॥

अर्थ—योगिगण भेदविज्ञानरूपी नेत्रकी सहायतासे सिद्धस्थान वा शरीरमें विद्यमान समस्त कर्मोंसे रहित

शुद्धचिद्रूपको स्पष्टरूपसे देखलेते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार गृह आदि स्थानोंपर स्थित पदार्थ नेत्रसे भलेप्रकार देख जान लिये जाते हैं उसीप्रकार सिद्धस्थान (मोक्ष) वा अपने शरीरमें विद्यमान समस्त कर्मोंसे रहित इस शुद्धचिद्रूपको दिखानेवाला जो भेदविज्ञान है उसके द्वारा योगी शुद्धचिद्रूपको भी स्पष्टरूपसे देखलेते हैं ॥ १८ ॥

मिलितानेकवस्तूनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक्।
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन निःशंकं ज्ञायते यथा ॥ १९ ॥
तथैव मिलितानां हि शुद्धचिद्देहकर्मणां।
अनुभूत्या कथं सद्भिः स्वरूपं न पृथक् पृथक् ॥ २० ॥ युग्मं ॥

अर्थ—जिसप्रकार विद्वान मनुष्य आपसमें मिले हुये भी अनेक पदार्थोंका स्वरूप स्पर्श आदिके द्वारा स्पष्टरूपसे जुदा जुदा पहिचान लेते हैं उसीप्रकार आपसमें अनादिकालसे मिले हुये शुद्धचिद्रूप शरीर और कर्मोंके स्वरूपको भी अनुभव ज्ञानके बलसे वे विना किसी रोक टोकके स्पष्टरूपसे जुदा जुदा जान लेते हैं। भावार्थ—संसारमें पदार्थोंके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं और उनके बतलानेवाले लक्षण भी जुदे जुदे हैं। जल और अग्नि आदि पदार्थ एक स्थानपर स्थित रहनेपर भी अपने शीत और उष्ण स्पर्शसे स्पष्टरूपसे जुदे जुदे जानलिये जाते हैं क्योंकि शीत स्पर्श सिवाय जलके और उष्णस्पर्श सिवाय अग्निके किसी पदार्थमें नहिं रहता उसीप्रकार यद्यपि शुद्धचिद्रूप,

और शरीर कर्म अनादिकालसे आपसमें एकम एक होरहे हैं। आजतक कभी ऐसा अवसर न आया जिसमें ये सर्वथा जुदे जुदे हुये हों तथापि अनुभव-भेदविज्ञानके बलसे इनको जुदा जुदा कर जान लिया जाता है-यह शुद्धचिद्रूप है और ये जड़ शरीर और कर्म हैं यह बात खुलासारूपसे समझमें आजाती है ॥ १९ ॥ २० ॥

आत्मानं देहकर्माणि भेदज्ञाने समागते ।
मुक्त्वा यांति यथा सर्पा गरुडे चंदनद्रुमं ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चंदनवृक्षपर लिपटा हुआ सर्प अपने वैरी गरुड़ पक्षीके देखते ही तत्काल आंखोंके ओझल हो जाता है पता लगाने पर भी उसका पता नहिं लगता उसीप्रकार भेदविज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त कर्म आत्माको छोड़कर न मालूम कहां लापता होजाते हैं विरोधी भेदविज्ञानके उत्पन्न होते ही कर्मोंकी सूरत भी नहिं दीख पड़ती ॥ २१ ॥

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली ।
भवेद्देवाधिदेवोपि तीर्थकर्त्ता जिनेश्वरः ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तये भेदविज्ञानप्राप्ति प्रतिपादकोऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अर्थ—इसी भेदविज्ञानके बलसे यह आत्मा शुद्धचिद्रूपको प्राप्तकर केवलज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगता है। भावार्थ—केवली जिनेश्वर आदि पदोंकी प्राप्ति अतिकठिन है परंतु भेदविज्ञानियोंको नहीं क्योंकि जो महानुभाव अपने भेदविज्ञानरूपी अखंडबलसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करलेते हैं वे केवलज्ञानरूपी अचिंत्यविभूतिसे मंडित होजाते हैं समस्त देवोंके स्वामी तीर्थंकर और जिनेश्वर भी कहलाने लगते हैं इसलिये यह भेदविज्ञान संसारकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला अनुपम चिंतामणि रत्न है ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरांगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करनेके लिये भेदविज्ञानकी प्राप्तिका बतलानेवाला आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमा अध्याय।

अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतराः।
एतेऽदश्चिंतनं मोहो यतः किंचिन्न कस्यचित् ॥ १ ॥

अर्थ—ये चेतन और जड़ पदार्थ पराये वा अपने हैं इसप्रकारका मनमें चिंतवन करना ही मोह है क्योंकि

यदि वास्तवमें देखा जाय तो कोई पदार्थ किसीका नहीं। भावार्थ—सिवाय शुद्धचिद्रूपके संसारमें कोई पदार्थ अपना नहीं इसलिये स्त्री पुत्र आदि चेतन, धन माल खजाना आदि अचेतन पदार्थोंमें अपने मनका संकल्प विकल्प करना मोह है ॥ १ ॥

दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्त्तिरुज्ज्वला।
अनुज्ज्वलापकीर्त्तिर्वा मोहस्तेनेति चिंतनं ॥ २ ॥

अर्थ—इसने मेरा आदर सत्कार किया इसने मेरा अपमान अनादर किया, इसने मेरी उज्वल कीर्ति फैलाई और इसने मेरी अपकीर्ति फैलाई इसप्रकारका मनमें विचार लाना ही मोह है। भावार्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय तो किसका आदर ? किसका अनादर ? किसकी कीर्ति ? और किसकी अपकीर्ति ? सब बातें मिथ्या हैं परंतु मोहसे मूढ़ यह प्राणी आदर अनादरका विचार करने लग जाता है इसलिये उसका इसप्रकारका विचार करना प्रबल मोह है ॥ २ ॥

किं करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुखं कुतः।
किमाश्रयामि किं वच्मि मोहश्चिंतनमीदृशं ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? कैसे सुखी हों किसका सहारा लूं और क्या कहूं ? इसप्रकारका विचार करना भी मोह है। निर्मोही वीतराग ऐसे विचारको सर्वथा मिथ्या मान कभी ऐसा विचार नहिं करते ॥ ३ ॥

चेतनाचेतने रागो द्वेषो मिथ्यामतिर्मम।
मोहरूपमिदं सर्वं चिद्रूपोऽहं हि केवलः ॥ ४ ॥

अर्थ—ये जो संसारमें चेतन अचेतन रूप पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे मेरे हैं या दूसरेके हैं इसप्रकार राग और द्वेषरूप विचार करना मिथ्या है क्योंकि ये सब मोहस्वरूप हैं और मेरा स्वरूप शुद्धचिद्रूप है इसलिये ये मेरे कभी नहिं हो सकते ॥ ४ ॥

देहोऽहं मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम।
कलत्रादिरहं वा मे मोहोऽदश्चिंतनं किल ॥ ५ ॥

अर्थ—मैं शरीरस्वरूप हूं वा शरीर मेरा है मैं कर्मका उदयस्वरूप हूं वा कर्मका उदय मेरा है मैं स्त्री पुत्र आदि स्वरूप हूं वा स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारका विचार करना भी सर्वथा मोह है-देह आदिमें मोहके होनेसे ही ऐसे विकल्प होते हैं ॥ ५ ॥

तज्जये व्यवहारेण संत्युपाया अनेकशः ।
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनं ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे इस उपर्युक्त मोहके नाश करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं निश्चयनयसे मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा विचार करने मात्रसे ही इसका सर्वथा नाश होजाता है। भावार्थ—यह मेरा है यह तेरा है मैं शरीर आदि स्वरूप हूं शरीर आदि मेरे स्वरूप हैं इसप्रकारका विचार करना जो पहिले मोह बतला आये हैं उस मोहका नाश व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य अभ्यंतर परिग्रहके त्यागसे तप आदिके आचरण करनेसे होता है और निश्चयनयसे 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा विचार करनेसे ही वह समूल नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥

धर्मो द्वारविनाशनादि कुरुते कालो यथा रोचते
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितं ।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते
तच्चिंतामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनं ॥ ७ ॥

अर्थ—कालके अनुसार धर्म, कर्मोंके आगमनके द्वारको रोकता है। पहिलेका उपार्जन किया हुआ कर्म

इंद्रियोंके उत्तमोत्तम सुख वा नानाप्रकारके क्लेश भुगाता है। जो पदार्थ जैसे और जिस रीतिसे हैं वे उसीरीतिसे विद्यमान है इसलिये हे आत्मन्! तू उनकेलिये किसी बातकी चिंता न कर, अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर ध्यान दे। भावार्थ–जो पदार्थ जैसा है वह उसी रूपसे है वास्तविक दृष्टिसे रत्तीभर भी उसमें हेर फेर नहिं हो सकता। देखो! कालके अनुसार धर्मसे कर्मोंका आना बंद होता है और नाश होता है। पहिले उपार्जन किये कर्मसे संसारमें सुख दुःख भोगना पड़ता है और भी जो पदार्थ जिसरूपसे हैं वे उसीरूपसे स्थित हैं तब उनके विषयमें चिंता करना व्यर्थ है इसलिये आत्माको चाहिये कि वह समस्त प्रकारकी चिंताओंका परित्यागकर अपने शुद्ध चिद्रूपकी ही चिंता करै। उसीकी चिंतासे उसका कल्याण हो सकता है॥ ७॥

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि–
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः॥ ८॥

अर्थ––यह शरीर दुर्गंधमय है। विष्ठा मूत्र आदि मलोंका घर है। निंदितकर्मकी कृपासे मल मज्जा आदि

धातुओंसे बना हुआ है तथापि मूढ़ मनुष्योंने अपने स्वार्थकी पुष्टिकेलिये इच्छानुसार इसकी प्रशंसाकी है परंतु मुझै इस शरीरकी प्रशंसा और निंदासे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं निश्चयनयसे शरीर कर्म और उनसे उत्पन्न हुये विकारोंसे रहित शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूं। भावार्थ-यदि यह शरीर मेरा वा मेरे समान होता तो मुझै इसकी प्रशंसा निंदा करनी पड़ती सो तो है नहीं क्योंकि यह महा अपवित्र है जड़ है और मै शुद्धचिद्रूप हूं इसलिये कभी भी इसकी मेरे साथ तुलना नहिं हो सकती इसलिये मुझै इसकी प्रशंसा वा निंदासे कोई लाभ नहीं ॥ ८ ॥

कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ॥ ९ ॥

अर्थ—संसारमें बहुतसे मोही पुरुष कीर्तिके लिये काम करते हैं। अनेक दूसरोंके प्रसन्न करनेके लिये, इंद्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिये, अपने जीवनकी रक्षाके लिये, संतान परिग्रह भय ज्ञान दर्शन तथा अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके अभावकेलिये काम करते हैं और बहुतसे कीर्ति आदिके कारणोंके मिलानेके लिये उपाय सोचते रहते हैं। परंतु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं अपनी आत्माको सुखी बनाना चाहते हैं वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये

ही कार्य करते हैं। भावार्थ-संसारमें जीव भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके हैं कोई मनुष्य संसारमें कीर्तिलाभ करना ही अच्छा समझते हैं, बहुतसे परको प्रसन्न करनेसे ही अपनेको सुखी मानते हैं, अनेक इंद्रियोंके विषयोंमें प्रसन्न रहते हैं कोई कोई अपने जीवनकी रक्षा, संतानकी उत्पत्ति और परिग्रहकी एकत्रता करना ही अच्छा समझते हैं, बहुतसे ज्ञान दर्शन आदि अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके दूर करनेके लिये ही चिंता करते रहते हैं तथा इनकी प्राप्तिके उपाय और उनके अनुकूल कार्य भी किया करते हैं परंतु ऐसे मनुष्य संसारमें उत्तम नहिं गिने जाते। मोहके जालमें जिकडे हुये कहे जाते हैं। किंतु जो बुद्धिमान मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये कार्य करते हैं और उसकी प्राप्तिके उपायोंको सोचते हैं वे प्रशस्य गिने जाते हैं ॥ ९ ॥

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखं ॥ १० ॥

अर्थ—मैने शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भलेप्रकार जानलिया है इसलिये मेरे चित्तमें देवेंद्र नागेंद्र और नरेंद्रोंके सुख जीर्णतृण सरीखे जान पड़ते हैं परंतु जो मनुष्य अल्पज्ञानी हैं अपने और परके स्वरूपका भले प्रकार ज्ञान नहिं रखते वे निंदित स्त्रियां लक्ष्मी घर शरीर और पुत्रसे उत्पन्न हुये सुखको जो कि दुःख स्वरूप है, सुख मानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १० ॥

न वद्धः परमार्थेन वद्धो मोहवशाद् गृही ।
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत् ॥ ११ ॥

अर्थ—भय करानेवाले पाशके समान अथवा वंदरकी मुठीके ममान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टिसे कर्मोंसे संवद्ध नहिं है तथापि मोहसे वंधाही हुआ है। भावार्थ—जिसप्रकार नलिनीपर लटकता हुआ शुक यद्यपि पाशसे वंधा हुआ नहिं रहता तथापि वह अपनेको पाशसे वंधा हुआ मानता है और अपनी सुधिबुधिको भूलकर उसको छोड़ना नहिं चाहता-लटकता ही रहता है तथा यद्यपि वंदरकी मुट्ठी वास्तवरूपसे नहिं वंधती तथापि वह वंधी सरीखी जान पड़ती है । उसीप्रकार यदि परमार्थसे देखा जाय तो यह जीव किसीप्रकारके कर्मोंसे वंधा हुआ नही है तथापि व्यवहारसे यह मोहके गाढ़ वंधनमें जिकड़ा हुआ ही है ॥ ११ ॥

श्रद्धानां पुस्तकानां जिनभवनमठांतेनिवास्यादिकानां
कीर्तेरक्षार्थकानां भुवि झटिति जनो रक्षणे व्यग्रचित्तः ।
यस्तस्य क्वात्मचिंता क्व च विशदमतिः शुद्धचिद्रूपकाप्तिः
क्व स्यात्सौख्यं निजोत्थं क्व च मनसि विचिंत्येति कुर्वंतु यत्नं ॥ १२ ॥

अर्थ—यह संसारी जीव, नाना प्रकारके धर्मकार्य, पुस्तकें, जिनेंद्र भगवानके मंदिर मठ छात्र और कीर्तिकी रक्षा करनेके लिये सदा व्यग्रचित्त रहता है-उन कार्योंसे रंचमात्र भी इसे अवकाश नहिं मिलता इसलिये न यह किसीप्रकारका आत्मध्यान कर सकता न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती और न शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और निराकुलतारूप सुख ही मिल सकता अतः बुद्धिमानोंको चाहिये कि वे इन सब बातोंपर भलेप्रकार विचार कर आत्माके चिंतवन आदि कार्योंमें अच्छी तरह यत्न करें। भावार्थ—आत्माकी ओर ध्यान लगानेसे विशद-मति—भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका लाभ और उससे फिर निराकुलतारूप सुखकी प्राप्ति होती है। परंतु जब तक धर्मकार्य पुस्तकें और कीर्ति आदिकी रक्षामें व्यग्रता रहैगी तबतक उपर्युक्त एक भी बातकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये जिन महाशयोंके शुद्धचिद्रूप आदि पदार्थोंकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि वे संसारकी समस्त खटपटोंसे रहित हो शांतचित्त हों ॥ १२ ॥

अहं भ्रांतः पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशतः
परद्रव्ये चिंतासततकरणादाभवमहो ।
परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानंदनिलये

निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे ॥ १३ ॥

अर्थ—मोहके फंदमें पड़कर परद्रव्योंकी चिंता और उन्हें अपनानेसे प्रथम तो मैंने संसारमें परिभ्रमण किया और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जनसमूह घूमा इसलिये जो महापुरुष परद्रव्योंसे ममता छोड़कर चिदानंद स्वरूप निज द्रव्यमें विहार करनेवाला है-निजद्रव्यका ही मनन स्मरण ध्यान करनेवाला है उस महात्मा को मैं अपने चित्तमें धारण करता हूं। भावार्थ-इस संसारमें सबसे बलवान मोहनीय कर्म है और उसके फंदमें पड़कर जीव नाना प्रकारके क्लेश भोगते रहते हैं। इसी मोहके फंदमें फसकर परद्रव्योंकी चिंतामें व्यग्र हो मैंने बहुत कालतक इस संसारमें भ्रमण किया और मेरे पीछे और भी बहुतसे जीव घूमते रहै परंतु इस संसारमें ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं जिन्होंने मोहको सर्वथा निर्मूल कर दिया है और समस्त परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्व छोड़कर आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें चित्त स्थिर किया है इसलिये अब मैं ऐसे ही महापुरुषोंका शरण लेना चाहता हूं इन्हींके शरणमें जानेसे मेरा कल्याण होगा ॥ १३ ॥

हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति।
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूपका स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते हैं वे चिंतामणि रत्नका त्यागकर पाषाण ग्रहण करते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १४ ॥

स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं परं स्यादात्मचिंतनात् ।
तन्मुक्त्वा प्राप्तुमिच्छंति मोहतस्तद्विलक्षणं ॥ १५ ॥

अर्थ—इस आत्माके चिंतवनसे-शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे निराकुलतारूप सुख और उत्तमज्ञानकी प्राप्ति होती है परंतु ये मूढ़ जीव मोहके वश होकर आत्माका चिंतवन करना छोड़ देते हैं और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनंत क्लेश देनेवाला है' कर निकलते हैं ॥ १५ ॥

यावन्मोहो बली पुंसि दीर्घसंसारतापि च ।
न तावत् शुद्धचिद्रूपे रुचिरत्यंतनिश्चला ॥ १६ ॥

अर्थ—जबतक इस आत्माके साथ महाबलवान मोहनीय कर्मका संबंध है और दीर्घसंसारता-चिरकालतक संसारमें भ्रमण करना बाकी है तबतक इसका कभी भी शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे प्रेम नहिं होसकता ॥ १६ ॥

अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने

गीतं वाधिर्ययुक्ते वपनमिह यथाऽप्यूपरे वार्यतृष्णे ॥
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघः कुंकुमं नीलवस्त्रे
नात्मप्रीतौ तदाख्या भवति किल वृथा निःप्रतीतौ सुमंत्रः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधके लिये नांच, अज्ञानीकेलिये तप, आयुके अंतमें औषधिका प्रयोग, वहिरेकेलिये गीतोंका गाना, ऊसरमें अन्नका बोना, विना प्यासे मनुष्यके लिये जल देना, चिकनेपर चित्रका खीचना, अभव्यको धर्मकी रुचि कहना, काले कपड़ेपर केसरिया रंग और प्रतीति रहित पुरुषके लिये मंत्र प्रयोगकरना कार्यकारी नहीं उसीप्रकार जिसका आत्मामें प्रेम नहीं उस मनुष्यको आत्माके ध्यान करनेका उपदेश भी कार्यकारी नहीं—सब व्यर्थ है। भावार्थ-जिसप्रकार अंधा नांच नहिं देख सकता। अज्ञानी तप नहिं कर सकता। आयुका अंत हो जाने पर दवा काम नहिं दे सकती। वहिरा गीत नहिं सुन सकता। ऊसरमें अन्न नहिं ऊग सकता। विना प्यासे मनुष्यके लिये, जल फल नहिं दे सकता। चिकने पदार्थपर तस्वीर नहिं खिच सकती। अभव्यको धर्म रुचि नहिं हो सकती। काले कपड़ेपर केसरिया रंग नहि चढ़ सकता और अविश्वासी मनुष्यकेलिये मंत्र काम नहि दे सकता। उसीप्रकार आत्मामें प्रेम न करनेवाला मनुष्य भी उसके उपदेशसे कुछ लाभ नहिं उठा सकता इसलिये जीवोंको चाहिये कि वे अवश्य आत्मामें प्रेम करैं ॥ १७ ॥

स्मरंति परद्रव्याणि मोहान्मूढाः प्रतिक्षणं ।
शिवाय स्वं चिदानंदमयं नैव कदाचन ॥ १८ ॥

अर्थ—ये मूढ़ मनुष्य, मोहके वश हो प्रतिसमय परद्रव्यका स्मरण करते हैं परंतु मोक्षके लिये शुद्धचिदानंदका कभी भी ध्यान नहिं करते ॥ १८ ॥

मोह एव परं वैरी नान्यः कोपि विचारणात् ।
ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरात् ॥ १९ ॥

अर्थ—विचार करनेसे मालूम हुआ है, कि यह मोह ही जीवोंका अहित करनेवाला महाबलवान वैरी है इसीके अधीन हो मनुष्य नानाप्रकारके क्लेश भोगते रहते हैं। इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं-आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले इस मोहको जीतें—अपने वशमें करै ॥ १९ ॥

भवकूपे महामोहपंकेऽनादिगतं जगत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्ज्वा सर्वं समुद्धरे ॥ ॥ २० ॥

अर्थ—यह समस्त जगत अनादिकालसे संसाररूपी विशाल कूपके अंदर महामोहरूपी कीचड़में फंसा हुआ

है इसलिये अब मै शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी मजबूत रस्सीके द्वारा इसका उद्धार करूंगा। भावार्थ—जिसप्रकार कूवेमें कीचड़के अंदर फंसा हुआ पदार्थ रस्सीके सहारे ऊपर खींच लिया जाता है उसीप्रकार यह समस्त जगत इस संसारमें महामोहसे मूढ़ हो रहा है और इसे अपने हित अहितका जरा भी ध्यान नहीं है इसलिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सहायतासे मैं इसका उद्धार करना चाहता हूं ॥ २० ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥ २१ ॥

अर्थ—संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके ध्यानके, जितने कार्य हैं सब मोहज–मोहके द्वारा उत्पन्न हैं–सबकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण मोह है तथा मोहसे कर्मोंका बंध और उससे अनंतेक्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिये सबसे अधिक जीवोंका वैरी मोह ही है॥ २१ ॥

मोहं तज्जातकार्याणि संगं हित्वा च निर्मलं।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कुरु त्यक्त्वान्यसंगतिं ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानाय मोहत्यागप्रतिपादको नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अर्थ—अतः जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुये समस्त कार्योंका सर्वथा त्याग करदें—उनकी ओर झांककर भी न देखें और समस्त परद्रव्योंसे ममता छोड़ केवल शुद्धचिद्रूपका ही मनन ध्यान और स्मरण करें ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकेलिये मोहके त्यागका वर्णन करनेवाला नववां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥



दशवां अध्याय ।

निरंतरमहंकारं मूढाः कुर्वंति तेन ते ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं विलोकंते न निर्मलं ॥ १ ॥

अर्थ—मूढ़ पुरुष निरंतर अहंकारके वश रहते हैं—अपनेसे बढ़कर किसीको भी नहिं समझते इसलिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर वे जरा भी नहिं देखने पाते। भावार्थ—अहंकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका बाधक है। अहंकारी मनुष्य रूप आदिके मदमें ही उन्मत्त रहते हैं। शुद्धचिद्रूपकी ओर झांक कर भी नहिं देखने

पाते । इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे अहंकारका सर्वथा परित्याग करदें ॥ १ ॥

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा ॥ २ ॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥ ३ ॥ युग्मं ॥

अर्थ— मैं देहस्वरूप हूं, कर्म स्वरूप हूं, मनुष्य हूं, कृश हूं, स्थूल हूं, गोरा हूं, काला हूं, ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रिय वैश्य आदि हू, ब्राह्मण हू, मूर्ख हूं, विद्वान हू, निर्धन हूं, धनवान हूं, इत्यादि रूपसे मनमें विचार करना अहंकार है मूढ़ मनुष्य इसी अहंकारमें चूर रहते हैं ॥ २–३ ॥

ये नरा निरहंकारं वितन्वंति प्रतिक्षणं ।
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवंति न संशयः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रतिसमय निरहंकारता प्रकट करते रहते हैं अहंकार नहिं करते उन्हें निस्संदेह अद्वैतस्वरूप शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥ ५ ॥
चिंतनं निरहंकारो भेदविज्ञानिनामिति ।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं परं ॥ ६ ॥ युग्मं ॥

अर्थ— जो मनुष्य भेदविज्ञानी हैं जड़ और चेतनका वास्तविक भेद जानते हैं उनका न मै देहस्वरूप हूं, न कर्मस्वरूप हूं, न मनुष्य हूं, न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय आदि हूं, न स्थूल हूं, न कृश हूं, किंतु शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूं इस प्रकारका चिंतवन करना निरहंकार "अहंकारका अभाव" है और यह-निरहंकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है ॥ ५–६ ॥

ममत्वं ये प्रकुर्वंति परवस्तुषु मोहिनः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मूढ़ जीव परपदार्थोंमें ममता रखते हैं उन्हें अपनाते हैं उन्हें स्वप्नमें भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती। भावार्थ–संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके अपना कोई पदार्थ नहीं स्त्री पुत्र मित्र आदि सब परपदार्थ

हैं इसलिये जो जीव निजपदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें परपदार्थोंमें किसीप्रकारका ममत्व न रखना चाहिये ॥ ७ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि मम देहोऽपि वा मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता मम जायात्मजात्मजः ॥ ८ ॥
गौरश्वोऽजो गजो रा विरापणं मंदिरं मम ।
पूः राजा मम देशश्च ममत्वमिति चिंतनं ॥ ९ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्म मेरे हैं शरीर पिता माता बहिन भाई स्त्री पुत्री पुत्र गाय अश्व बकरी हाथी-धन पक्षी बाजार मंदिर मेरे हैं और पुर राजा और देश भी मेरे हैं इसप्रकारका मनमें चिंतवन करना ममत्व है अर्थात् इनको अपनाना ममत्व कहलाता है ॥ ८–९ ॥

निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणां ।
तस्मात्तदार्थिना चिंत्यं तदेवैकं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

अर्थ—जिन किन्हीं विद्वान मनुष्योंकों शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हुई है उन्हें शरीर आदि परपदार्थोंमें ममता न

रखनेसे ही हुई है इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे निर्ममत्वका ही बार बार चिंतवन करै उसीकी ओर अपनी दृष्टि लगायें ॥ १० ॥

शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोपि नो मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मजः ॥ ११ ॥
गौरश्वो गजो रा विरापणं मंदिरं न मे ।
पूराजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चिंतनं ॥ १२ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्म मेरे नहिं हैं देह, पिता, माता, वहिन, भाई, स्त्री, पुत्री, पुत्र, गाय, अश्व, हाथी धन पक्षी बाजार मंदिर पुर राजा और देश भी मेरे नहीं इसप्रकारका जो मनमें चिंतवन करना है वह निर्ममत्व है ॥ ११ ॥ १२ ॥

ममेति चिंतनाद् वंधो मोचनं न ममेत्यतः ।
बंधनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥ १३ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारके विचार करनेसे कर्मोंका बंध होता है और ये मेरे नहीं ऐसा विचार

करनेसे कर्म नष्ट होते हैं इसलिये मम (मेरे) ये दो अक्षर तो कर्मबंधके कारण हैं और मम न (मेरे नहीं) इन तीन अक्षरोंके चिंतवन करनेसे कर्मोंकी मुक्ति होती है ॥ १३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतेयत् ॥ १४ ॥

अर्थ---यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्त्व है परम ध्यान, परम व्रत, परम सुख और परम शील है और इससे इंद्रियोंके विषयोंका निरोध होता है इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे इस शुद्धचिद्रूपका ही ध्यान करैं ।१४।

याता ये यांति यास्यंति भदंता मोक्षमव्ययं।
निर्ममत्वेन ते तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो मुनिगण मोक्ष गये, जारहे हैं, और जांयगे उनको मोक्षकी प्राप्तिमें यह निर्ममत्व ही कारण है इसीकी कृपासे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हुई है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको निर्ममत्वका ही ध्यान करना चाहिये ॥ १५ ॥

निर्ममत्वे तपोपि स्यादुत्तमं पंचमं वृतं।
धर्मोपि परमस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—परपदार्थोंकी ममता न रखनेसे-भलेप्रकार निर्ममत्वके पालन करनेसे उत्तमतप और पांचवें निष्परिग्रह नामक व्रतका पूर्णरूपसे पालन होता है। सर्वोत्तम धर्मकी भी प्राप्ति होती है इसलिये यह निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ॥ १६ ॥

निर्ममत्वाय न क्लेशो नान्ययांचा न चाटनं ।
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकेलिये न किसीप्रकारका क्लेश भोगना पड़ता है न किसीसे कुछ मागना और चाटुकार (चापलूसी) करना पड़ता है। किसीप्रकारकी चिंता और द्रव्यका व्यय भी नहिं करना पड़ता इसलिये निर्ममत्व ही ध्यान करनेके योग्य है ॥ १७ ॥

नास्रवो निर्ममत्वेन न बंधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकी ओर झुकनेसे अशुभ कर्मका आस्रव और बंध नहिं होता, संयममें भी किसीप्रकारकी हानि नहि आती-वह भी पूर्णरूपसे पलता है इसलिये यह निर्ममत्व ही चिंतवन करनेके योग्य पदार्थ है ॥ १८ ॥

सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी निर्ममत्वेन संयमी ।
तपस्वी च भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकी कृपासे जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानवान संयमी और तपस्वी कहलाता है इसलिये जीवोंको निर्ममत्वका ही चिंतवन कार्यकारी है ॥ १९ ॥

रागद्वेषादयो दोषा नश्यंति निर्ममत्वतः ।
शाम्यार्थी सततं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २० ॥

अर्थ—इसनिर्ममत्वके भलेप्रकार पालन करनेसे राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट होजाते हैं इसलिये जो मनुष्य शमताके अभिलाषी हैं-अपनी आत्माको संसारके दुःखोंसे मुक्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने मनको सब ओरसे हटाकर शुद्धचिद्रूपकी ओर लगावें-उसीका भलेप्रकार मनन ध्यान और स्मरण करें ॥ २० ॥

विचार्येत्थमहंकारममकारौ विमुंचति ।
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा ॥ २१ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानायाहंकारममकारत्यागप्रतिपादको दशमोऽध्यायः ॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि अहंकार और ममकारको अपने वास्तविक स्वरूप-शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करने वाले समझ उनका सर्वथा त्याग करदेता है-अपने मनको रंचमात्र भी उनकी ओर जाने नहिं देता उसै शीघ्र ही संसारमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होजाती है । भावार्थ—हमै शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे ही निराकुलतामय सुख मिल सकता है इसलिये उसीका ध्यान करना आवश्यक है परंतु जबतक स्त्री पुत्र आदि परपदार्थ मेरे हैं और मैं उनका हूं वा मैं देहस्वरूप कर्मस्वरूप हूं ऐसा विचार चित्तके अंदर बना रहता है तबतक कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नहिं हो सकता इसलिये जो मुनिगण शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हैं चाहिये कि वे अहंकार ममकारका सर्वथा त्याग करदें और शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी ओर अपना चित्त झुकावें ॥ २१ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपका ध्यान करनेकेलिये अहंकार ममकारके त्यागका बतलानेवाला दशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवां अध्याय ।

शांताः पांडित्ययुक्ता यमनियमबलत्यागरैवृत्तवंतः

सद्वोशीलास्तपोर्चानुतिनातिकरणा मौनिनः संत्यसंख्याः ।
श्रोतारश्च कृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गोर्मिधीराः
निःसंगाः शिल्पिनः कश्चन तु विरलः शुद्धचिद्रूपरक्तः ॥ १ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारमें शांतचित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान्, बलवान, धनवान, चारित्रवान् उत्तमवक्ता, शीलवान्, तप पूजा स्तुति और नमस्कार करनेवाले, मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इंद्रियोंके जीतनेवाले, उपसर्गोंके सहनेमें धीरवीर, परिग्रहोंसे रहित और नानाप्रकारकी कलाओंके जानकार असंख्याते मनुष्य हैं तथापि शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमें अनुरक्त कोई एक विरला ही है । भावार्थ—यह संसार नानाप्रकारके जीवोंका स्थान है इसमें बहुतसे मनुष्य शांतचित्त हैं तो बहुतसे विद्वान हैं बहुतसे यमवान्, नियमवान, बलवान, दानवान, धनवान और चारित्रवान हैं । अनेक उत्तमवक्ता, शीलवान, तप पूजा स्तुति और नमस्कार करनेवाले भी हैं। बहुतसे मौनी श्रोता आदि भी हैं, परंतु शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमें लीन बहुत ही कम हैं ॥ १ ॥

ये चैत्यालयचैत्यदानमहसद्यात्राकृतौ कौशला
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ ।

निःसंगाश्च तपस्विनोपि वहवस्ते संति ते दुर्लभा
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये ॥ २ ॥

अर्थ—संसारमें अनेक मनुष्य जिनमंदिरोंका निर्माण प्रतिमाओंका दान उत्सव और तीर्थोंकी यात्रायें करनेमें प्रवीण हैं नानाशास्त्रके जानकार परीपहोंके सहन करनेवाले, परोपकारमें रत, समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित और तपस्वी भी हैं परंतु रागद्वेप और मोहके सर्वथा नाश करनेवाले एवं शुद्धचिद्रूपरूपी तत्त्वमें लीन वहुत ही थोड़े हैं ॥२॥

गणकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रज्ञाः ।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्योतिपी, वैद्य, नैयायिक, पुराणके वेत्ता, पदार्थविज्ञानी, व्याकरण शास्त्रके जानकार, और संगीत आदि कलाओंमें भी प्रवीण वहुतसे मनुष्य हैं परंतु तत्त्वोंके जानकार नहीं ॥ ३ ॥

सुरूपबललावण्यधनापत्यगुणान्विताः ।
गांभीर्यधैर्यधौरेयाः संत्यसंख्या न चिद्रताः ॥ ४ ॥

अर्थ—उत्तमरूप वल लावण्य धन संतान और गुणोंसे भी वहुतसे मनुष्य भूपित हैं, गंभीर धीर और वीर भी असंख्याते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें लीन वहुत ही कम मनुष्य हैं ॥ ४ ॥

जलद्यूतवनस्त्रीविपुद्धगोलकगीतिषु।
क्रीडंतोऽत्र विलोक्यंते घनाः कोऽपि चिदात्मनि ॥ ५ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य जलक्रीड़ा जूआ वनविहार स्त्रियोंके विलास पक्षियोंके युद्ध गोलीमार क्रीड़ा और गायन आदिमें भी दत्तचित्त दिखाई देते हैं परंतु चिदात्मामें विहार करनेवाला कोई विरला ही दीखता है ॥ ५ ॥

सिंहसर्पगजव्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ।
रताः संत्यत्र बहवो न ध्याने स्वचिदात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस संसारमें बहुतसे मनुष्य सिंह सर्प हाथी व्याघ्र और अहितकारी-शत्रुआदिके भी वश करनेवाले हैं परंतु शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेवाले नहीं ॥ ६ ॥

जलाग्निरोगराजाहिचौरशत्रुनभस्वतां।
दृश्यंते स्तंभने शक्ता नान्यस्य स्वात्मचिंतया ॥ ७ ॥

अर्थ—जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, वैरी और पवनके स्तभन करनेमें-उनकी शक्तिको दबादेनेमें भी बहुतसे मनुष्य समर्थ हैं परंतु, आत्मध्यान द्वारा परपदार्थोंसे अपना मन हटानेके लिये सर्वथा असमर्थ

हैं । भावार्थ—यद्यपि जल अग्नि रोग राजा सर्प चोर वैरी आदि पदार्थ संसारमें अत्यंत भयंकर हैं-इनसे अपनी रक्षा करलेना अति कठिन बात है तथापि बहुतसे ऐसे भी बलवान मनुष्य हैं जो इन्हें देखते ही देखते वश करलेते हैं परंतु वे भी अपने आर्तध्यानके बलसे परपदार्थोंसे ममत्व दूर करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ७ ॥

प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति चिंतनं परवस्तुनः ।
सर्वे व्यामोहिता जीवाः कदा कोऽपि चिदात्मनः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें रहनेवाले जीव प्रायः मोहके जालमें जिकड़े हुये हैं-उन्हें अपनी सुधि बुधिका कुछ भी होश हवास नहीं है इसलिये प्रतिक्षण वे परपदार्थोंका ही चिंतवन करते रहते हैं । उन्हें ही अपनाते हैं। परंतु शुद्ध-चिदात्माका कोई विरला ही चिंतवन करता है ॥ ८ ॥

दृश्यंते बहवो लोके नानागुणविभूषिताः ।
विरलाः शुद्धचिद्रूपे स्नेहयुक्ता व्रतान्विताः ॥ ९ ॥

अर्थ—बहुतसे मनुष्य संसारमें नानाप्रकारके गुणोंसे भूषित रहते हैं परंतु ऐसे मनुष्य विरले ही हैं जो शुद्धचिद्रूपमें स्नेह करनेवाले और व्रतोंसे भूषित हों ॥ ९ ॥

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ॥ १० ॥
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥ ११ ॥

अर्थ—एकेंद्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जो जीव इस संसारमें अनंतानत भरे हुये हैं उनमें तो शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है परंतु जो जीव पंचेंद्रिय संज्ञी-मनसहित हैं उनमें भी जो आर्य-स्वपर स्वरूपके भलेप्रकार जानकार हैं और आसन्न भव्य-बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं वे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान कर सकते हैं ॥१०॥११॥

शुद्धचिद्रूपसंलीनाः सव्रता न कदाचन ।
नरलोकवहिर्भागेसंख्यातद्वीपवार्धिषु ॥ १२ ॥

अर्थ—ढाई द्वीपतक मनुष्य क्षेत्र है और उससे आगे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं उनमें रहनेवाले भी जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपमें लीन और व्रतोंसे भूपित नहिं हो सकते ॥ १२ ॥

अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वतः ।

ते भवंति न ज्योतिष्के हा हा क्षेत्रस्वभावतः ॥ १३ ॥

अर्थ—समस्त अधोलोक ऊर्ध्वलोक और ज्योतिर्लोकमें भी क्षेत्रके स्वभावसे जीव शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका आचरण नहिं कर सकते ॥ १३ ॥

नरलोकेपि ये जाता नराः कर्मवशाद् घनाः ।
भोगभूम्लेच्छखंडेषु ते भवंति न तादृशाः ॥ १४ ॥

अर्थ—मनुष्य क्षेत्रमें भी जो जीव भोगभूमि और म्लेच्छखंडमें उत्पन्न हुये हैं उन्हें भी सघनरूपसे कर्मोंद्वारा जिकड़े हुये होनेके कारण शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका आचरण करनेका अवसर प्राप्त नहिं होता ॥ १४ ॥

आर्यखंडभवाः केचिद् विरलाः संति तादृशाः ।
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः स्युरद्य न कदापि वा ॥ १५ ॥

अर्थ—परंतु जो जीव आर्यखंडमें उत्पन्न हुये हैं उनमेंसे भी विरले ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके पालक होते हैं तथा इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले तो इससमय दो तीन ही हैं अथवा हैं ही नहीं ॥ १५ ॥

अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिकाः ।

सम्यक्त्वसहितास्तत्र तत्राणुव्रतधारिणः ॥ १६ ॥
महाव्रतधरा धीराः संति चात्यंतदुर्लभाः ।
तत्त्वातत्त्वविदस्तेषु चिद्रक्तोत्यंतदुर्लभः ॥ १७ ॥

अर्थ--इस क्षेत्रमें प्रथम तो इससमय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी ही विरले हैं यदि वे भी मिलजांय तो अणुव्रत धारी मिलने कठिन हैं अणुव्रत धारी भी हों तो धीरवीर महाव्रतधारी दुर्लभ हैं यदि वे भी हों तो तत्त्व अतत्त्वोंके जानकार बहुत कम हैं यदि वे भी प्राप्त होजांय तो शुद्धचिद्रूपमें रत मनुष्य अत्यंत दुर्लभ हैं। भावार्थ–इससंसारमें सदा अनंते जीव निवास करते रहते हैं उनमें जिनवचन और जिनेंद्रदेवके श्रद्धानी पाक्षिक मनुष्य बहुत कम हैं उनसे भी कम अणुव्रतोंके पालक हैं उनसे भी कम धीरवीर महाव्रती हैं। महाव्रतियोंसे कम तत्त्व अतत्त्वोंके जानकार हैं। और उनसे भी कम चिद्रूपके प्रेमी हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्तिको अतिदुर्लभ मान उसीका ध्यान करें ॥ १६ ॥ १७ ॥

तपस्विपात्रविद्वत्सु गुणिसद्गतिगामिषु ।
वंद्यस्तुत्येषु विज्ञेयः स एवोत्कृष्टतां गतः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुरक्त हैं वे ही तपस्वी उत्तमपात्र विद्वान गुणी समीचीन मार्गके अनुगामी और उत्तम वंदनीक स्तुत्य मनुष्योंमें उत्कृष्ट हैं ॥ १८ ॥

उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यंतवर्जिते स्तोकाः ।
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता भवंति केचित्कदाचिच्च ॥ १९ ॥

अर्थ—इस अनादि अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके धारक बहुत ही कम मनुष्य होते हैं और वे भी कभी किसी समय, प्रतिसमय नहीं। भावार्थ—जिसमें मनुष्योंकी आयु बल वीर्य आदि वृद्धिंगत हों वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें आयु आदिकी कमताई होती जाय उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं यह जो कालका अनादि अनंत प्रवाह है उसमें कभी किसी समय शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके पालक मनुष्य दृष्टि गोचर होते हैं प्रति समय नहीं तथा वे भी बहुत कम अधिक नहीं ॥१९॥

मिथ्यात्वादिगुणस्थानचतुष्के संभवंति न ।
शुद्धचिद्रूपके रक्ता व्रतिनोऽपि कदाचन ॥ २० ॥
पंचमादिगुणस्थानदशके तादृशोऽगिनः ।

स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेयं स्तोकजीवसमाश्रिते ॥ २१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान पर्यंत जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती नहिं हो सकते किंतु देशविरत पंचम गुणस्थानसे लेकर अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थन पर्यतके जीव ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती होते हैं इसलिये शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका ज्ञान बहुत थोड़े जीवोंमें हैं। भावार्थ—मिथ्यात्व सासादन मिश्र अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरतको आदि लेकर अयोग केवलीपर्यंत चौदह गुणस्थान हैं उनमें आदिके चार गुणस्थानवर्ती जीवोंके न तो शुद्धचिद्रूपमें लीनता हो सकती है और न वे किसीप्रकारके व्रतही पाल सकते हैं क्योंकि चौथे गुणस्थानमें आकर केवल श्रद्धान ही होता है परंतु पांचवेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव व्रती और शुद्धचिद्रूपके ध्यानी होते हैं इसलिये शुद्धचिद्रूपके प्रेमी और व्रती मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे

रक्षाश्च प्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपासक्तो विरल इति प्रतिपादक एकादशोऽध्यायः ।११।

अर्थ–इस संसारमें कोई मनुष्य तो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोंमें अनुरक्त हैं, और बहुतसे छोटा भाई, पुत्र पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गांव, घर, इंद्रियोंके भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजकार्य, खाने योग्य पदार्थ, शरीर, वन, व्यसन, खेती, कूआ, बावड़ी, और तालावोंमें प्रेम करनेवाले हैं, और बहुतसे अन्य मनुष्योंके इधर उधर भेजनेमें, यश और पशु गणोंकी रक्षा करनेमें अनुराग करने वाले हैं परंतु शुद्धचिद्रूपका अनुरागी कोई भी मनुष्य नहीं है। भावार्थ-संसारमें मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके हैं और उन्हें प्रीति उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोंको ही प्रिय और उत्तम मानते हैं। बहुतोंको छोटे भाई, पुत्र पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गांव, घर, इंद्रियोंके भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजाके कार्य, खानेयोग्य पदार्थ, वन, व्यसन, खेती, कूप और तालाब अतिप्यारे लगते हैं। बहुतसे भृत्योंको जहां तहां भेजना यशप्राप्ति और पशुगणोंकी रक्षाको ही अतिप्रिय मानते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपमें किसीका भी प्रेम नहीं है इसलिये बाह्य पदार्थोंमें व्यर्थ मुग्ध होकर आत्मिक शुद्धचिद्रूपकी ओर जरा भी ध्यान नहिं देते॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें "शुद्धचिद्रूपके प्रेमी विरले ही है"
इस वातको प्रतिपादन करनवाला ग्यारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

बारहवां अध्याय ।

रत्नत्रयोपलंभेन विना शुद्धचिदात्मनः ।
प्रादुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे ॥ १ ॥

अर्थ—जैनशास्त्रसे यह बात जानी गई है कि विना रत्नत्रयको प्राप्त किये आज तक किसी भी जीवको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति न हुई सबको रत्नत्रयके लाभके बाद ही हुई है । भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आत्माके गुणोंको रत्नत्रय कहते हैं और ये तीनों शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण हैं, इसलिये विना रत्नत्रयके लाभके किसीको भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती । जिन्हें भी उसकी प्राप्ति हुई है उन्हें प्रथम रत्नत्रयकी प्राप्ति होगई है और उसकेबाद शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है ॥ १ ॥

विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूपं न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥ २ ॥

अर्थ—विना शुद्धचिद्रूपको प्राप्त किये आजतक किसी मनुष्यने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपायसे शुद्धचिद्रूपको प्राप्त न किया, सबोंने पहिले रत्नत्रयको पाकर ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति की है ॥ २ ॥

...ला १३८

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्वलाहकात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार तपके विना ऋद्धि, पिताके विना पुत्री और मेघके विना वर्षा नहिं हो सकती उसीप्रकार विना रत्नत्रयकी प्राप्तिके शुद्धचिद्रूपकी भी प्राप्ति नहिं हो सकती। भावार्थ–जिसप्रकार ऋद्धिकी प्राप्तिमें तप, पुत्रीकी उत्पत्तिमें पिता और वर्षाकी उत्पत्तिमें मेघ असाधारण (निमित्त) कारण हैं। विना तप आदिके ऋद्धि-आदिकी प्राप्ति नहिं होसकती उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है। विना इसै प्राप्त किये शुद्धचिद्रूपका लाभ नहिं हो सकता ॥ ३ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥ ४ ॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वरने एकसाथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्माकी प्रवृत्तिको रत्नत्रय कहा है। भावार्थ–गुण गुणीसे कभी भिन्न नहिं हो सकते इसलिये जितने गुण हैं वे अपने गुणियोंके स्वरूप हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी आत्माके गुण हैं। न कभी ये आत्मासे जुदे रह सकते हैं

और न सिवाय आत्माके किसी पदार्थमें ही पाये जाते हैं। हां यह बात अवश्य है कि विरोधी कर्मोंकी मौजूदगी में ये प्रच्छन्न रूपसे रहते हैं। परंतु जिससमय इनके विरोधी कर्म नष्ट हो जाते हैं और ये तीनों एक साथ आत्मामें प्रकट हो जाते हैं उसी समयकी अवस्थाको रत्नत्रयकी प्राप्ति कहते हैं और यह रत्नत्रयकी प्राप्ति ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है ॥ ४ ॥

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्विधा तत्परिकीर्त्तितं ।
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है और व्यवहार रत्नत्रयके होते ही निश्चय रत्नत्रयकी प्रकटता होती है। भावार्थ-जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान, ज्ञान और 'कर्मोंके नष्ट करनेके लिये तप आदि करना' चारित्र, यह तो व्यवहार रत्नत्रय है और निश्चय रत्नत्रय आत्मस्वरूप है परंतु विना व्यवहार रत्नत्रयके निश्चय रत्नत्रय कभी प्राप्त नहिं हो सकता इसलिये निश्चय रत्नत्रयमें व्यवहार रत्नत्रय कारण है ॥ ५ ॥

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और इसके आठ अंग हैं तथा यह औपशमिक क्षायिक एवं क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। भावार्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें-भगवान जिनेंद्रने जो इनका स्वरूप बतलाया है वह उसीप्रकारसे है अन्यथा नहीं इसप्रकारका श्रद्धान-विश्वास रखना व्यवहार सम्यग्दर्शन है इसके निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना ये आठ अंग हैं और औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ ६ ॥

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव सत्रूपसे समस्त पदार्थोंका विश्वास करता है अनेकांत रूपसे समस्त वचनोंको बोलता है और जिसको यह श्रद्धान है कि समस्त जगत् ज्ञानसे व्याप्त है वह सम्यग्दृष्टि है। भावार्थ—मेरु आदि पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें नेत्रसे नहिं देख सकते और सर्वज्ञके वचनसे उनके अस्तित्वका निश्चयकर उनकी मोजूदगी का श्रद्धान करना पड़ता है इसलिये जिस महानुभावको मेरु आदिके अस्तित्वसे उनके मोजूदगीका श्रद्धान है। वचनोंमें किसीप्रकारका विरोध न आजाय इसलिये जो अनेकांतवादपर पूर्ण विश्वासकर उसकी सहायतासे वचन

बोलता है और यह समस्त जगत ज्ञानके गोचर है-इसके मध्यमें रहनेवाले पदार्थ ज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे जाने जा सकते हैं ऐसा जिसको पूर्ण श्रद्धान है वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥ ७ ॥

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत्।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनं ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें जो रुचि करना है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और यह कर्मरूपी ईंधनके लिये जाज्वल्यमान अग्नि है-निश्चय सम्यग्दर्शनके आश्रयसे समस्त कर्म जलकर खाक हो जाते हैं ॥ ८ ॥

यदि शुद्धं चिद्रूपं निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत्।
जानन् पश्यन् पश्यति तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो जीव तीनकालमें रहनेवाले आत्मिक शुद्ध समस्त चिद्रूपको एक साथ जानता देखता है वास्तविकदृष्टिसे वही सम्यग्दृष्टि है। भावार्थ—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समस्तपदार्थ परिवर्तनशील हैं। प्रतिक्षण सबकी पर्यायें बदलतीं रहतीं हैं। आत्माकी भी ज्ञान दर्शन आदि चेतनाओंका प्रतिसमय परिवर्तन हुआ करता है। इस लिये जो जीव त्रिकालवर्ती अपने समस्त शुद्धचिद्रूपको एकसाथ जानता देखता है वास्तवमें वही सम्यग्दृष्टि है ॥

ज्ञात्वाष्टांगानि तस्यापि भाषितानि जिनागमे।
तैरमा धार्यते तद्धि मुक्तिसौख्याभिलाषिणा ॥ १० ॥

अर्थ—जो महानुभाव मोक्षसुखके अभिलाषी हैं मोक्षकी प्राप्तिसे ही अपना कल्याण समझते हैं वे जैनशास्त्रमें वर्णन किये गये सम्यग्दर्शनको उसके आठ अंगोंके साथ धारण करते हैं। भावार्थ--तत्त्वोंका स्वरूप यही है और ऐसा ही है भगवान जिनेंद्रने जो कुछ उनके विषयमें कहा है उससे अन्यथा नहिं हो सकता-इसप्रकार जैन शास्त्र और जिन भगवानमें जो गाढ़ रुचि रखना है वह निश्शंकितांग है। देव और मनुष्यभवके सुखको पापका कारण जान उसके लिये लालसा प्रकट न करना निष्कांक्षितअंग है। महा अपवित्र इस शरीरसे निकलते हुये रुधिर आदिको देखकर ग्लानि न करना, दूसरोंको रुग्ण देख उनसे मुख न मोड़ना निर्विचिकित्सित अंग है। मिथ्यामार्ग व उनके भक्तोंसे किसीप्रकारका धार्मिक संबंध न रखना उनके मिथ्यात्वकी अपने मुखसे प्रशंसा न करना अमूढ़दृष्टि अंग है। यदि कोई अज्ञानी पवित्र जैन मार्गकी निंदा करै तो उसके दूर करनेका उपाय करना उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन आदिसे विचलित मनुष्यको पुनः सम्यग्दर्शन आदिमें दृढ कर देना स्थितिकरण अंग है। सहधर्मी भाइयोंमें गौ वच्छरेके समान प्रीति रखना वात्सल्य अंग है और जैनमार्गके अतिशय प्रकट करनेके लिये विद्यालय खोलना आदि उपाय करना प्रभावना अंग है-जो महानुभाव इन आठों अंगोंके साथ साथ सम्यग्दर्शन धारण करता है उसे मोक्षकी अवश्य प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अष्टधाचारसंयुक्तं ज्ञानमुक्तं जिनेशिना ।
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासो भवेद् यतः ॥ ११ ॥
स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥ १२ ॥

अर्थ—भगवान जिनेंद्रने व्यवहारनयसे आठप्रकारके आचारोंसे युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थोंका भलेप्रकार प्रतिभास होता है परंतु जिससे स्वस्वरूपका ज्ञान हो जो शुद्धचिद्रूपको जाने वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान समस्त कर्मोंका नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें परम कारण है इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजे भवेत्तत्त्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्बाहिरंतरसंगमुक्तस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—मोहके सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित पुरुषका जो आत्मिक शुद्धचिद्रूपका अनुभव करना है वही वास्तविकरूपसे परम ज्ञान है ॥ १३ ॥

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ॥ १४ ॥

अर्थ—जहांपर सावद्य हिंसाके कारण रूप-पदार्थोंसे निवृत्ति और शुभ कार्यमें प्रवृत्ति हो उसे व्यवहार चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकारका है। भावार्थ—अशुभकार्यसे निवृत्ति और शुभकार्यमें प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र है और वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह ये पांचप्रकारके व्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच समितियां एवं वाग्गुप्ति कायगुप्ति और मनोगुप्ति, ये तीन प्रकारकी गुप्तियां इसतरह तेरह प्रकारका है ॥ १४ ॥

मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुनेः ।
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं तच्चारित्रं न चापरं ॥ १५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ जो मूल और उत्तर गुणोंका पालन करना है वह चारित्र है अन्य नहीं तथा यही चारित्र मोक्षका कारण है ॥ १५ ॥

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।

य: स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ॥ १६ ॥

अर्थ— बाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्यागकर, नग्नमुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका धारक होकर जो शुद्धचिद्रूपका स्मरण करता है उसीके उत्तम चारित्र होता है ॥ १६ ॥

ज्ञप्त्या दृष्ट्या युतं सम्यक्चारित्रं तन्निरुच्यते ।
सतां सेव्यं जगत्पूज्यं स्वर्गादिसुखसाधनं ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही सम्यक्चारित्र सज्जनोंको आचरणीय है और वह ही समस्त संसारमें पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखोंको प्राप्त करानेवाला है। भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ऐसे कारण हैं कि इनमें एक भी कम जानेपर मोक्षसुख नहिं मिल सकता। यदि चाहैं कि विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके केवल सम्यक्चारित्रसे ही मोक्षसुख मिल जाय तो यह कभी नहिं हो सकता, किंतु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकेसाथ रहनेवाले सम्यक्चारित्रसे ही मोक्षसुख मिलसकता है इसलिये ऐसा चारित्र ही सज्जनोंका परम आदरणीय और जगत्पूज्य है ॥ १७ ॥

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरत्यंतानिश्चला।

तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥ १८ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धस्वरूपमें जो निश्चलरूपसे स्थिति है, उसै निश्चयचारित्र कहते हैं और इस चारित्रकी प्राप्तिसे समस्त कर्मोंका अवश्य ही नाश हो जाता है-अर्थात् निश्चयचारित्रके प्राप्त होते ही जीव समस्त कर्मोंका नाशकर सिद्धशिलापर जा विराजते हैं ॥ १८ ॥

यदि चिद्रूपे शुद्धे स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात् ।
परद्रव्यस्यास्मरणं शुद्धनयादंगिनो वृत्तं ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि इस जीवकी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति हो जाय और पर पदार्थोंसे सर्वथा प्रेम हटजाय, तो उसीको शुद्धनिश्चयनयसे चारित्र समझना चाहिये। भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति नहीं होती और परपदार्थोंसे प्रेम नहिं हटता, तबतक कदापि निश्चयचारित्रकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके अभिलाषी विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति करै और परपदार्थोंसे प्रेम हटावें ॥ १९ ॥

रत्नत्रयं किल ज्ञेयं व्यवहारं तु साधनं ।

सद्भिश्च निश्चयं साध्यं मुनीनां सद्विभूषणं ॥ २० ॥

अर्थ—निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिमें व्यवहाररत्नत्रय साधन-(कारण) है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है तथा यह निश्चयरत्नत्रय मुनियोंका उत्तम भूषण है ॥ २० ॥

रत्नत्रयं परं ज्ञेयं व्यवहारं च निश्चयं ।
निदानं शुद्धचिद्रूपस्वरूपात्मोपलब्धये ॥ २१ ॥

अर्थ—यह व्यवहार और निश्चय दोनोंप्रकारका रत्नत्रय शुद्धचिद्रूपके स्वरूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है। विना दोनों प्रकारके रत्नत्रयको प्राप्त किये कदापि शुद्धचिद्रूपके स्वरूपका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ २१ ॥

स्वशुद्धचिद्रूपपरोपलब्धिः कस्यापि रत्नत्रयमंतरेण ।
कचित्कदाचन्न च निश्चयो यद् दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्वदैव ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूपणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्यै रत्नत्रयप्रतिपादको द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति विना रत्नत्रयके आजतक कभी और किसी देशमें नहिं हुई। सबको रत्न-

त्रयकी प्राप्तिके अनतर ही शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है यह मेरी आत्मामें दृढ़रूपसे निश्चय है ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूपणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरागिणीमें 'शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है' इसवातको बतलानेवाला बारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवां अध्याय ।

विशुद्धं वसनं श्लाघ्यं रत्नं रूप्यं च कांचनं ।
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिसप्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चांदी, सोना, पात्र और भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशस्य गिने जाते हैं उसीप्रकार यह शुद्धचिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशस्य है ॥ १ ॥

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनांशेन विशुद्धता ॥ २ ॥

अर्थ—पुरुषमें राग द्वेप आदि लक्षणका धारक संक्लेश, अशुद्धपना कहा जाता है और जितने अंशमें राग

द्वेष आदिका नाश हो जाता है उतने अंशमें विशुद्धपना कहा जाता है। भावार्थ–यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है परंतु राग द्वेष आदिके संबंधसे अशुद्ध होजाता है; किंतु जितने अंशमें राग द्वेष आदि नष्ट होते जाते हैं उतने अंशमें यह शुद्ध होता चला जाता है॥ २॥

येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपाद्याति वेगतः।
विशुद्धिरेति चिद्रूपे स विधेयो मुमुक्षुणा॥ ३॥

अर्थ—जो जीव मोक्षाभिलापी हैं-अपनी आत्माको समस्त कर्मोंसे रहित करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि जिस उपायसे यह संक्लेश दूर हो विशुद्धपना आवे वह उपाय अवश्य करै॥ ३॥

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कमावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्धयै॥ ४॥

णर्थ—जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं उनकी स्तुति ,नमस्कार और पूजन करना, सामायिक प्रतिक्रमण आदि

छै प्रकारके आवश्यकोंका आचरण करना, सम्यक्चारित्रका दृढ़रूपसे धारण करना, उत्तम तप और तीर्थयात्रा
करना, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना और क्रोध मान माया आदि कषायोंको उत्पन्न न होने
देना आदि विशुद्धिके कारण हैं, विना इन वातोंके आचरण किये विशुद्धि नहिं हो सकती। भावार्थ–उत्तम मुनि आदि
महापुरुषोंकी विनय आदि करनेसे, सामायिक आदि आवश्यकोंके आचरणसे, सम्यक्चारित्रके पालनसे, उत्तम तप,
तीर्थयात्राके करनेसे, परिग्रहोंके त्यागसे, और क्रोध आदि कषायोंके न उत्पन्न होनेदेनेसे कर्मोंका नाश होता है
और कर्मोंके नाशसे आत्मामें विशुद्धपना आता है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्माकी विशुद्धताके अभिलाषी हैं
उन्हें चाहिये कि वे उपर्युक्त वातोंपर अवश्य ध्यान दें और अपनी आत्माको शुद्ध वनावें ॥ ४ ॥

रागादिविक्रिया दृष्ट्वांगिनां क्षोभादि मा व्रज ।
भवे तदितरं किं स्यात् स्वच्छं शिवपदं स्मर ॥ ५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! मनुष्योंमें रागद्वेष आदिका विकार देख तुझै किसीप्रकार क्षोभ न करना चाहिये
क्योंकि संसारमें सिवाय राग आदिके विकारके और होना ही क्या है ! इसलिये तू अतिशय विशुद्ध मोक्षमार्ग
का ही स्मरण कर। भावार्थ–प्रायः संसारमें यह वात प्रत्यक्षगोचर होती है कि कहीं रागके संवंधसे नानाप्रकार-
के विकार देखनेमें आते हैं और कहीं द्वेष और मोहके संवंधसे, परंतु रागद्वेष आदिका विकार देख किसीप्रकार

क्षोभ न करना चाहिये क्योंकि इसका नाम संसार है और इसमें राग द्वेषके विकारोंके सिवाय उत्तम बात होनी कठिन है इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू रागद्वेष आदिके विकारोंसे रहित होना चाहता है; तो तू मोक्षमार्गका स्मरणकर उसीसे तेरा कल्याण होगा ॥ ५ ॥

विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहितः
सरोगो निःस्वो वा विमतिरगुणः शक्तिविकलः ॥
सदा दोषी निंद्योऽगुरुविधिरकर्मा हि वचनं
वदन्नंगी सोयं भवति भुवि वैशुद्ध्यसुखभाग् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीव यह कहता रहता है कि मैं मोहके जालमें फसकर बुद्धिशून्य होगया हूं, ज्ञानरहित, रोगी, निर्धनी, पागल, अगुणी, शक्तिरहित, दोषी, निंदनीक, हीन क्रियाओंका आचरण करनेवाला, अकर्मण्य-आलसी होगया हूं, वही जीव विशुद्धताके सुखका अनुभव करता है अन्य नहीं। भावार्थ—जो मनुष्य सदा अपनेको ऊंचा और प्रतिष्ठित समझता रहता है उसकी आत्मा विशुद्धताका अनुभव नहिं करसकती; किंतु जो संसारके चरित्रको जानकर शरीर और आत्माका भेद पहिचानकर 'मैं मूढ़ हूं ज्ञानरहित रोगी और निर्धन आदि हूं' ऐसा विचार करता रहता है वही विशुद्धताका अनुभव कर सकता है ॥ ६ ॥

राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात्
दोपोद्भूतेरकीर्तेः सततमतिभयं रैनृगोमंदिरस्य ॥
चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहिणां तेन तेपां विशुद्धं
चिद्रूपध्यानरत्नं श्रुतिजलधिभवं प्रायशो दुर्लभं स्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंको राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, वैरी, अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोप और अकीर्तिसे सदा भय बना रहता है। धन कुटुंबी मनुष्य गाय और महलकी चितायें लगी रहती हैं एवं उनके नाशसे शोक होता रहता है इसलिये उन्हें शास्त्ररूपी अगाधसमुद्रसे उत्पन्न, शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होना नितांत दुर्लभ है। भावार्थ—भयभीत मनुष्य अगाधसमुद्रसे जिसप्रकार सहसा रत्न प्राप्त नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल आदिसे भय करनेवाला है धन धान्य गौ महल आदिकी चिंता और उसके नाशसे शोकाकुल रहता है वह कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नहिं कर सकता ॥ ७ ॥

पठने गमने संगे चेतनेऽचेतनेऽपि च।
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा चिंता हेया विशुद्धये ॥ ८ ॥

अर्थ—जो महानुभाव विशुद्धताका आकांक्षी है अपनी आत्माको निष्कलंक बनाना चाहता है उसै चाहिये कि वह पढ़ने, गमन करने, चेतन अचेतन दोनोंप्रकारके परिग्रह धारने और किसी अन्य कार्यके करनेमें किसीप्रकारकी चिंता न करै-अर्थात् अन्य पदार्थोंकी चिंता करनेसे आत्मा विशुद्ध नहिं बन सकती ॥ ८ ॥

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णवः ।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनं ॥ ९ ॥

अर्थ—आचारांग सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्धचिद्रूपका अंश है इसलिये यदि शुद्धचिद्रूप प्राप्त होगया है तो मुझै द्वादशांगसे क्या प्रयोजन ! वह तो प्राप्त हो ही गया। भावार्थ–द्वादशांगकी प्राप्ति संसारमें अतिशय दुर्लभ है परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होते ही उसकी प्राप्ति आपसे आप होजाती है क्योंकि वह शुद्धचिद्रूपका अंश है इसलिये कल्याणके आकांक्षी जीवोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी ही प्राप्ति करैं द्वादशांग आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपके लाभका ही प्रयत्न करै ॥ ९ ॥

शुद्धचिद्रूपके लब्धे कर्तव्यं किंचिदस्ति न ।
अन्यकार्यकृतौ चिंता वृथा मे मोहसंभवा ॥ १० ॥

अर्थ—मुझे संसारमें शुद्धचिद्रूपका लाभ होगया है इसलिये कोई कार्य मुझे करनेके लिये अवशिष्ट न रहा सब करचुका तथा शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होजानेपर अन्यकार्योंके लिये मुझे चिंता करना भी व्यर्थ है क्योंकि यह मोहसे होती है-अर्थात् मोहसे उत्पन्न हुई चिंतासे मेरा कदापि कल्याण नहिं हो सकता ॥ १० ॥

वपुषां कर्मणां कर्महेतूनां चिंतनं यदा ।
तदा क्लेशो विशुद्धिः स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ ११ ॥

अर्थ—शरीर कर्म और कर्मके कारणोंका चिंतवन करना क्लेश है अर्थात् उनके चिंतवनसे आत्मामें क्लेश उत्पन्न होता है और शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे विशुद्धि होती है ॥ ११ ॥

गृही यतिर्न यो वेत्ति शुद्धचिद्रूपलक्षणं ।
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरं ॥ १२ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ वा मुनि शुद्धचिद्रूपका स्वरूप नहिं जानता उसकेलिये पंचपरमेष्ठीके मंत्रोंका स्मरण करना ही कार्यकारी है उसीसे उसका कल्याण होसकता है ॥ १२ ॥

संक्लेशस्य विशुद्धेश्च फलं ज्ञात्वा परीक्षणं ।

तं त्यजेत्तां भजत्यंगी योऽत्रामुत्र सुखी स हि ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धिके फलको परीक्षापूर्वक जानकर संक्लेशको छोड़ता है और विशुद्धिका सेवन करता है उस मनुष्यको इसलोक, परलोक दोनो लोकोंमें सुख मिलता है ॥ १३ ॥

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां
विशुद्धौ मोचनं तेषां बंधो वा शुभकर्मणां ॥ १४ ॥

अर्थ—क्योंकि संक्लेशके होनेसे अत्यत दुःखदायी अशुभ कर्मोंका आत्माके साथ संबंध होता है और विशुद्धताकी प्राप्तिसे इन अशुभकर्मोंका संबंध छूटता है तथा शुभकर्मोंका संबंध होता है । भावार्थ–जब तक यह आत्मा विशुद्ध नहिं होता संक्लेशमय रहता है तब तक इसके साथ नाना प्रकारके अशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है और उससे इसै अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं; परंतु जिस समय यह आत्मा विशुद्धताका अनुभव करने लग जाता है उससमय इससे अशुभ कर्मोंका संबंध छूट जाता है और सुखदायक शुभकर्मोंका संबंध होने लगता है इसलिये दुःखदायक संक्लेशको छोड़कर सुखदायक चिद्रूपकी शुद्धिकाही आश्रय करना योग्य है ॥१४॥

विशुद्धेः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं मुख्यकारणं ।

संक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितं ॥ १५ ॥

अर्थ--यह विशुद्धि शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें मुख्य कारण है-इसीसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होती है। और संक्लेश शुद्धचिद्रूपके ध्यानका विघातक है, जबतक आत्मामें किसीप्रकारका संक्लेश रहता है तबतक शुद्धचिद्रूपका ध्यान कदापि नहिं हो सकता ॥ १५ ॥

अमृतं च विशुद्धिः स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितं ।
अत्यंतसेवने कष्टमन्यस्यास्य परं सुखं ॥ १६ ॥

अर्थ--संसारमें लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं-अथवा जिस किसी पदार्थको लोग अमृत बतलाते है, वह पदार्थ वास्तवमें अमृत नहीं है वास्तविक अमृत तो विशुद्धि ही है। क्योंकि लोककथित अमृतके अधिक सेवन करनेसे तो कष्ट भोगना पड़ता है, और विशुद्धिरूपी अमृतके अधिक सेवन करनेपर भी अनुपम सुख ही मिलता है, किसीप्रकारका भी कष्ट नहीं भोगना पड़ता; इसलिये जिससे सब अवस्थाओंमें सुखमिले वही अमृत सचा है ॥ १६ ॥

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।

विमुच्यानुपमं राज्यं खसुखानि धनानि च ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विशुद्धताके भक्त हैं, अपनी आत्माको विशुद्ध बनाना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धिके लिये पर्वतकी गुफाओंमें निवास करते हैं तथा अनुपम राज्य, इंद्रियसुख, और संपत्तिका सर्वथा त्याग करदेते हैं-राज्य आदिकी ओर जरा भी चित्तको भटकने नहिं देते ॥ १७ ॥

विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात् स्थितिस्तस्या विशुद्धता ।
तयोरन्योन्यहेतुत्वमनुभूय प्रतीयतां ॥ १८ ॥

अर्थ—विशुद्धि होनेसे शुद्धचिद्रूपमें स्थिति होती है और विशुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति करनेसे विशुद्धि होती है इसलिये इन दोनोंको आपसमें एक दूसरेका कारण जानकर इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिये । भावार्थ—जब तक विशुद्धता नहिं होती तबतक शुद्धचिद्रूपमें स्थिति नहिं हो सकती; और जबतक शुद्धचिद्रूपमें स्थिति नहिं होती तबतक विशुद्धता नहिं आसकती इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि इनमें एक दूसरे को आपसमें कारण जानकर इन दोनोंके स्वरूपको जाननेकेलिये पूर्ण उद्यम करैं ॥ १८ ॥

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।

परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥ १९ ॥
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥ २० ॥

अर्थ---यह विशुद्धि ही संसारमें परम धर्म है यही जीवोंको सुखका देनेवाला, उत्तम चारित्र, और मोक्षका मार्ग है इसलिये जो मुनिगण विद्वान हैं-जड़ और चेतनके स्वरूपके वास्तविक जानकार हैं उन्हें चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे प्रयत्नपूर्वक विशुद्धिकी प्राप्ति करें। भावार्थ-विना शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके विशुद्धिकी प्राप्ति होना असंभव है इसलिये विद्वान मुनिगणोंको इसकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करना चाहिये क्योंकि यह विशुद्धि ही संसारमें परम धर्म, सुखके देनेवाली, उत्तम चारित्र और मोक्षका मार्ग है ॥१९॥२०॥

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥ २१ ॥

अर्थ---जब तक मुनिगण बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका सर्वथा नाश नहिं करदेते तब तक उनके चिद्रूपमें विशुद्धपना नहिं आ सकता। भावार्थ-स्त्री पुत्र आदिको अपनाना बाह्य परिग्रह है और रागद्वेष आदिको

अपनाना अभ्यंतर परिग्रह है जबतक इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें ममता लगी रहती है, तबतक चिद्रूप विशुद्ध नहिं हो सकता, परंतु ज्यों २ वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे ममता छूटती जाती है त्यों २ चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है इसलिये जो मुनिगण विशुद्धचिद्रूपके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे सर्वथा ममता छोड़ दें ॥ २१ ॥

विशुद्धिनावमेवात्र श्रयंतु भवसागरे ।
मज्जंतो निखिला भव्या बहुना भाषितेन किं ॥ २२ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि- इस विषयमें विशेष कहनेसे क्या प्रयोजन ? प्रियभव्यो ! अनादि कालसे आप लोग इस संसाररूपी सागरमें गोता खा रहे हैं, अब आप इस विशुद्धिरूपी नौकाका आश्रय लेकर संसारसे पार होनेके लिये पूर्ण उद्यम कीजिये ॥ २२ ॥

आदेशोऽयं सद्गुरूणां रहस्यं सिद्धांतानामेतदेवाखिलानां ।
कर्तव्यानां मुख्यकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै विशुद्धयानयनविधिप्रतिपादकस्त्रयोदशोऽध्यायः

अर्थ—अपने चित्स्वरूपमें विशुद्धि प्राप्त करना यही उत्तम गुरुओंका उपदेश है समस्त सिद्धांतोंका रहस्य, और समस्त कर्तव्योंमें मुख्य कर्तव्य है। भावार्थ–चिद्रूपको विना विशुद्ध किये किसीप्रकारका कल्याण नहिं हो सकता इसलिये यही उत्तम गुरुओंका उपदेश समस्त सिद्धांतोंका रहस्य और कर्तव्योंमें मुख्य कर्तव्य है कि चिद्रूपमें विशुद्धि प्राप्त करो ॥ २३ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये विशुद्धिकी प्राप्तिका उपाय प्रतिपादन करनेवाला तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



चौदहवां अध्याय ।

नीहाराहारपानं खमदनविजयं स्वापमौनासनं च
यानं शीलं तपांसि व्रतमपि कलयन्नागमं संयमं च ॥
दानं गानं जिनानां नुतिनतिजपनं मंदिरं चाभिषेकं
यात्रार्चे मूर्तिमेवं कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहं ॥ १ ॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष जिसप्रकार नीहार (मलमूत्रका त्याग करना) खाना पीना, इंद्रिय और कामका विजय, सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान, भगवानकी स्तुति, प्रणाम, जप, मंदिर, अभिषेक, तीर्थयात्रा, पूजन और प्रतिमाओंके निर्माण आदि करनेको आवश्यक कार्य समझते हैं उसीप्रकार मैं शुद्ध-चिद्रूप स्वरूप हूं ऐसा समझनेको भी आवश्यक कार्य मानते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार बुद्धिमान पुरुषोंको मलमूत्र त्याग, खाना, पीना, इंद्रिय और कामका विजय, मौन, आसन, गमन, शील, तप व्रत आदि कार्य करने पड़ते हैं विना इन्हें किये उनका काम नहिं चलसकता उसीप्रकार 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' इसप्रकारके विना ध्यानके भी उनका कार्य नहीं चलसकता इसलिये उन्हें शुद्धचिद्रूपका भी अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ १ ॥.

कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं खजयजपतपोऽध्यापनं साधुसेवां
दानौघान्योपकारं यमनियमधरं स्वापशीलं दधानः ।
उद्भीभावं च मौनं व्रतसमितितातिं पालयन् संयमौघं
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापरः स्वर्गभाक् च ॥ २ ॥

अर्थ—जो मनुष्य तीर्थयात्रा, भगवानकी पूजन, इंद्रियोंका जय, जप, तप, अध्यापन (पढाना) साधुओंकी

सेवा, दान, अन्यका उपकार, यम, नियम, शील, भयका अभाव, मौन, व्रत और समितिका पालन एवं संयमका आ-
चरण करता हुआ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें रक्त है उसे तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और उससे अन्य अर्थात् जो शुद्ध-
चिद्रूपका ध्यान न कर तीर्थयात्रा आदिका ही करनेवाला है उसे नियमसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—
तीर्थयात्रा भगवानकी पूजन इंद्रियोंका जय, जप, तप, अध्यापन, साधुओंकी सेवा, आदि कार्य सर्वदा शुभ हैं
यदि इनके साथ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुराग किया जाय तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और शुद्धचिद्रूपका ध्यान
न कर केवल तीर्थयात्रा आदिका ही आचरण किया जाय तब स्वर्ग सुख मिलता है इसलिये उत्तम पुरुषोंको
चाहिये कि वे मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानके साथ तीर्थयात्रा आदिका अवश्य आचरण करें
यदि वे शुद्धचिद्रूपका ध्यान न भी कर सकें तो तीर्थयात्रा भगवानकी पूजन आदि कार्य तो अवश्य करने चाहिये
क्योंकि इनके आचरण करनेसे भी स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

चित्तं निधाय चिद्रूपे कुर्याद् वागंगचेष्टितं ।
सुधीर्निरंतरं कुंभे यथा पानीयहारिणी ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विद्वान हैं-संसारके संतापसे रहित होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे घड़ेमें पनिहारीके
समान शुद्धचिद्रूपमें अपना चित्त स्थिरकर वचन और शरीरकी चेष्टा करें। भावार्थ—जिसप्रकार पनिहारी जलसे भरे

हुये घड़ेमें अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीरकी चेष्टा करती है उसीप्रकार जो मनुष्य संसारके संतापसे खिन्न हैं और उससे रहित होना चाहते हैं उन्हें भी चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमें अपना मन स्थिरकर-उसकी प्राप्तिके लिये वचन और शरीरका व्यापार करैं क्योंकि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे समस्त संतापका नाश होता है और शांतिमय सुख मिलता है ॥ ३ ॥

वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य संगं हित्वा द्विधा ततः ।
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य ततः स्वीकृत्य संयमं ॥ ४ ॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि निर्जने निरुपद्रवे ।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचिंतां धृत्वा शुभासनं ॥ ५ ॥
पदस्थादिकमभ्यस्य कृत्वा साम्यावलंबनं ।
मानसं निश्चलीकृत्य स्वं चिद्रूपं स्मरंति ये ॥ ६ ॥ त्रिकलं ॥
पापानि प्रलयं यांति तेषामभ्युदयप्रदः ।
धर्मो विवर्द्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते ॥ ७ ॥

अर्थ–जो महानुभाव मनसे वचनसे और कायसे वैराग्यको प्राप्त होकर, वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहों-को छोड़कर तत्त्ववेत्ता गुरुका आश्रय और संयमको स्वीकार कर, समस्त शास्त्रोंके अध्ययनपूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थानमें रहते हैं और वहां समस्त प्रकारकी चिंताओंका त्याग, शुभ आसनका धारण, पदस्थ पिंडस्थ आदि ध्यानोंका अवलंबन, समताका आश्रय और मनका निश्चलपना धारण कर शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करते हैं उनके समस्त पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं, नानाप्रकारके कल्याणोंके करनेवाले धर्मकी वृद्धि होती है और मोक्ष उससे उन्हें मिलती है। भावार्थ–चिद्रूपका स्मरण करना संसारमें अतिशय कठिन है क्योंकि जो मनुष्य मन वचन और कायसे वैरागी-स्त्री पुत्र आदिमें ममत्व न रखनेवाला, वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्यागी, तत्त्वोंके जानकार गुरुओंका उपासक, परम संयमी, समस्त शास्त्रोंका वेत्ता, निर्जन और निरुपद्रव वनोंमें निवास करने वाला, सब प्रकारकी चिंताओंसे रहित, शुभ आसन, पदस्थ आदि ध्यान और समताका अवलंबी होगा एवं जिसका मन वाह्य पदार्थोंमें चंचल न होकर निश्चल होगा वही शुद्धचिद्रूपका स्मरण कर सकैगा, तथा ऐसे शुद्धचि-द्रूपके स्मरण करनेवाले पुरुषके ही समस्त पापोंका नाश, सर्वोत्तम धर्मकी वृद्धि और मोक्षका लाभ होगा इसलिये सुखके अभिलाषी जीवोंको चाहिये कि वे उपर्युक्त वातोंके साधन मिलाकर शुद्धचिद्रूपके स्मरणका अवश्य प्रयत्न करैं ॥ ४–७ ॥

वार्वाताग्न्यमृतोपवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा
सूर्येण प्रियभाषितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयं ।
अग्न्यब्दागविषं मलागफणिनोऽज्ञानं गदेभव्रजाः
रात्रिर्वैरमिहावनावघचयश्चिद्रूपसंचिंतया ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जल अग्निका क्षय करता है, पवन मेघका, अग्नि वृक्षका, अमृत विषका, खार मैलका, वज्र पर्वतका, गरुड़ सर्पका, ज्ञान अज्ञानका, औषध रोगका, सिंह हाथियोंका, सूर्य रात्रिका और प्रियभाषण वैरका नाश करता है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है। भावार्थ-जिन जिनका आपसमें विरोध होता है उनमें बलवान विरोधी दूसरे निर्बल विरोधीका अवश्य नाश करता है जल अग्नि, पवन मेघ, अग्नि वृक्ष, अमृत विष, खार मैल, वज्र पर्वत, गरुड़ सर्प, ज्ञान अज्ञान, औषध रोग, सिंह हाथी ,सूर्य रात्रि, और प्रियभाषण वैरका आपसमें विरोध है बलवान जल आदि अग्नि आदिको नष्ट करदेते हैं उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप और पापोंका आपसमें विरोध है इसलिये शुद्धचिद्रूपके सामने पाप जरा भी नहिं टिक सकते ॥ ८ ॥

वर्द्धंते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः ।
तथा चिद्रूपसद्ध्यानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पहिलेसे ऊगे हुये वृक्ष, मेघके जलसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे धर्म भी वृद्धिको प्राप्त होता है और नानाप्रकारके कल्याणोंको प्रदान करता है। भावार्थ–धर्म आत्माका स्वभाव है सिवाय आत्माके वह कभी किसी कालमें दूसरे पदार्थोंमें नहिं रहसकता किंतु कर्मोंके प्रबल पर्दाके पड़जानेसे उसका स्वरूप कुछ ढक जाता है–धर्माचरणकरनेमें मनुष्योंके परिणाम नहिं लगते परंतु जिसप्रकार जमीनमें पहिलेसे ही ऊगे हुयें वृक्ष; मेघकी सहायतासे वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं और नाना प्रकारके फलोंको प्रदान करते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानके द्वारा कर्मोंके नष्ट हो जानेसे धर्मभी वृद्धिको प्राप्त होजाता है और उससे जीवोंको अनेक प्रकारके कल्याणोंकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार मेघसे भूमिके अंदर हरे हरे अंकुर उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे

मुक्ति प्रदान करनेवाला धर्म भी उत्पन्न होता है —अर्थात् शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे अनुपम धर्मकी प्राप्ति होती है और उसकी सहायतासे जीव मोक्ष सुखका अनुभव करते हैं ॥ १० ॥

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमंतर्वहिःसंगमोचनं ॥
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिच्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो विद्वान पुरुष शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके साथ व्रतोंका आचरण करता है शास्त्रोंका स्वाध्याय, तपका आराधन, निर्जनवनमें निवास, वाह्य अभ्यंतर परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है उसे ही मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—चाहें कितना भी व्रतोंका आचरण, शास्त्रोंका स्वध्याय, तपका आराधन, निर्जनवनमें निवास, वाह्य अभ्यंतर दोनोप्रकारके परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा, और आतापन योगका धारण करो जबतक उनके साथ साथ शुद्धचिद्रूपका चिंतवन न किया जायगा तब तक उनसे कभी भी मोक्षसुख प्राप्त न होगा इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे व्रत आदिके आचरणके साथ अवश्य शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करें ॥ ११ ॥

शुद्धचिद्रूपके रक्तः शरीरादिपराङ्मुखः ।
राज्यं कुर्वन्न बंधेत कर्मणा भरतो यथा ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष शरीर स्त्री पुत्र आदिसे ममत्व छोड़कर शुद्धचिद्रूपमें अनुराग करनेवाला है वह राज्य करता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बधता जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत। भावार्थ–भगवान ऋषभदेवके पुत्र चक्रवर्ती राजा भरत छैखंडकी पृथ्वीके शासक थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके सेवक, छयानवे हजार आज्ञाकारिणीं रानियां और भी हाथी घोड़ा आदि लाखों करोड़ों थे तथापि उनका सिवाय शुद्धचिद्रूपके जरा भी किसीमें अनुराग न था। वे सदा सबसे पराङ्मुख रहते थे इसलिये जिससमय वे परिग्रहसे सर्वथा ममत्वरहित हो तपोवन गये उस समय कपड़े खोलते खोलते ही उन्हें केवलज्ञान होगया और समस्त कर्मोंका नाश कर वे मोक्ष शिलापर जा विराजे, उसीप्रकार भरत चक्रवर्तीके समान जो मनुष्य शरीर आदिसे ममत्व न कर शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करता है वह राज्यका भोग करता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बंधता और मोक्ष सुखका अनुभव करता है ॥ १२ ॥

स्मरन्स्व शुद्धचिद्रूपं कुर्यात्कार्यशतान्यपि ।
तथापि न हि बध्येत धीमानशुभकर्मणा ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपको स्मरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुष यदि सैकड़ों भी अन्य अन्य कार्य करै तथापि उसकी आत्माके साथ किसी प्रकारके अशुभ कर्मका बंध नहिं होता। भावार्थ–बंधके होनेमें कारण ममत्व है सैकड़ों कार्य करनेपर भी यदि परपदार्थोंमें किसी प्रकारकी ममता नहीं हो तो कदापि बंध नहिं हो सकता ॥ १३ ॥

रोगेण पीडितो देही यष्टिमुष्ट्यादिताडितः ।
बद्धो रज्वादिभिर्दुःखी न चिद्रूपं निजं स्मरन् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करनेवाला है चाहे वह कैसे भी रोगसे पीड़ित क्यों न हो। लाठी मुक्कोंसे ताड़ित और रस्सी आदिसे भी क्यों न बंधा हुआ हो उसे जरा भी क्लेश नहि होता अर्थात् वह यह जानकर कि "ये सारी व्याधियां शरीरमें होती हैं मेरे शुद्धचिद्रूपमें नहीं और शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न है" रंचमात्र भी दुःखका अनुभव नहिं करता ॥ १४ ॥

बुभुक्षया च शीतेन वातेन च पिपासया ।
आतपेन भवेन्नार्तो निजचिद्रूपचिंतनात् ॥ १५ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे मनुष्यको भूंख, ठंडी, पवन, प्यास और आतापकी भी बाधा नहिं होती-भूख आदिकी बाधा होनेपर भी वह आनंद ही मानता है ॥ १५ ॥

हर्षो न जायते स्तुत्या विषादो न स्वनिंदया ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोऽगिनः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो प्रतिदिन शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है उसै दूसरे मनुष्योंसे अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहि होता और निंदा सुनकर किसी प्रकारका विषाद नहिं होता—निंदा स्तुति दोनों दशामें वह मध्यस्थरूपसे रहता है ॥१६॥

रागद्वेषौ न जायेते परद्रव्ये गतागते ।
शुभाशुभेऽगिनः शुद्धचिद्रूपासक्तचेतसः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यका चित्त शुद्धचिद्रूपमें आसक्त है वह स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यके चले जानेपर द्वेष नहिं करता और उनकी प्राप्तिमें अनुरक्त नहिं होता । तथा अच्छी बुरी वातोंके प्राप्त होजानेपर भी उसै किसीप्रकारका राग द्वेष नहिं होता ॥ १७ ॥

न संपदि प्रमोदः स्यात् शोको नापदि धीमतां ।
अहो स्वित्सर्वदात्मीयशुद्धचिद्रूपचेतसां ॥ १८ ॥

अर्थ—सदा शुद्धचिद्रूपमें मन लगानेवाले बुद्धिमान पुरुषोंको संपत्तिके प्राप्त होजानेपर हर्ष और विपत्तिके आनेपर विषाद नहिं होता-वे संपत्ति और विपत्तिको समान रूपसे मानते हैं ॥ १८ ॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न मुंचंति सर्वदा ।

गच्छंतोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि ॥ १९ ॥
तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न ॥ २० ॥

अर्थ—जो महानुभाव आत्मिक शुद्धचिद्रूपका कभी त्याग नहिं करते वे यदि अन्य भवमें भी चले जांय तो भी उनके शुद्धचिद्रूपका अभ्यास नहिं छूटता-पहिले भवमें जैसी उनकी शुद्धद्रूपमें लीनता रहती है वैसी ही वनी रहती है इसलिये हे आत्मन् ! तू शुद्धचिद्रूपके ध्यानका इस रूपसे सदा अभ्यास कर, जिससे कि भयंकर दुःख और मरणके प्राप्त होजानेपर भी उसका विनाश न हो-वह ज्योंका त्यों वना रहै ॥ १९–२० ॥

वदन्नन्यैर्हसन् गच्छन् पाठयन्नागमं पठन् ।
आसनं शयनं कुर्वन् शोचनं रोदनं भयं ॥ २१ ॥
भोजनं क्रोधलोभादि कुर्वन् कर्मवशात् सुधीः ।
न मुंचति क्षणार्द्धं स शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपं स्मरन्नन्यकार्यं करोतीति प्रतिपादकश्चतुर्दशोऽध्यायः

अर्थ—जो पुरुष बुद्धिमान हैं—यथार्थमें शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके जानकार हैं वे कर्मोंके फंदमें फंसकर बोलते हंसते, चलते, आगमको पढाते, पढते, बैठते, सोते, शोककरते, रोते, डरते, खाते, पीते और क्रोध लोभ आदिको भी करते हुये क्षणभरकेलिये भी शुद्धचिद्रूपके स्वरूपसे विचलित नहिं होते-प्रतिक्षण वे शुद्धचिद्रूपका ही चिंतवन करते रहते हैं ॥ २१—२२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मिततत्त्वज्ञानतरंगिणीमें 'शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है' इसवातको वतलानेवाला चौदहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

पंद्रहवां अध्याय ।

गृहं राज्यं मित्रं जनकजननीं भ्रातृपुत्रं कलत्रं
सुवर्णं रत्नं वा पुरजनपदं वाहनं भूषणं वै ॥
खसौख्यं क्रोधाद्यं वसनमशनं चित्तवाक्कायकर्म—
त्रिधा मुंचेत्प्राज्ञः शुभमपि निजं शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै ॥ १ ॥

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्योंको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करनेके लिये शुभ होनेपर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण. इंद्रियजन्यसुख, क्रोध वस्त्र और भोजन आदिक मन वचन कायसे सर्वथा त्याग देने चाहिये। भावार्थ–यद्यपि, संसारमें घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, नगर, सवारी, इंद्रियजन्य सुख, आदिसेभी काम चलता है और शुभ भी हैं परंतु शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्तिमें बाधक हैं जबतक इनकी ओर ध्यान रहता है तब तक कदापि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहि हो सकती इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये घर राज्य आदिका सर्वथा त्याग करदें ॥१॥

सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तकधने
पुरादौ मंत्रादौ यशसि पठने राज्यकदने ॥
गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये
कुधर्मे वांछा स्यात् सुरतरुमुखे मोहवशतः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दीन जीवकी मोहकेवशसे पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मंत्र, कीर्ति ग्रंथोंका अभ्यास, राज्य, युद्ध, गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इंद्रियोंके विषय, कुधर्म, और कल्पवृक्ष आदिमें

वांछा होती है। भावार्थ—जबतक इसजीवके मोहका उदय रहता है तबतक यह पुत्र पुत्री स्त्री शरीर आदि परपदार्थोंको अपनाता रहता है और उनके फंदमें फसकर आत्मिक शुद्धचिद्रूपको सर्वथा भुला देता है परंतु मोहके नाश होते ही इसै अपने परायेका ज्ञान हो जाता है इसलिये उससमय पुत्र धन आदि पदार्थोंकी ओर यह झांक कर भी नहिं देखता ॥ २॥

किं पर्यायैर्विभावैस्तव हि चिदचितां व्यंजनार्थाभिधानैः
रागद्वेषाप्तिवीजैर्जगति परिचितैः कारणैः संसृतेश्च ॥
मत्वैवं त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मंक्षु तेषां
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचलतयांतर्दृशा संविधेहि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे चिदात्मन् ! संसारमें चेतन और अचेतनकी जो अर्थ और व्यंजन पर्यायें मालूम पड़रही हैं वे सब स्वभाव नही विभाव हैं निंदित हैं राग द्वेष आदिकी और संसारकी कारण हैं ऐसा भलेप्रकार निश्चयकर तू इनका विचार करना छोड़दे और आत्मिक शुद्धचिद्रूपको अपनी अंतर्दृष्टिसे भलेप्रकार पहिचान कर उसीमें निश्चलरूपसे स्थिति कर। भावार्थ—यदि कोई अपना है तो शुद्धचिद्रूप ही है शुद्धचिद्रूपसे भिन्न कोई पदार्थ अपना नहीं राग-

द्वेष मतिज्ञान और नरनारक आदि पर्यायोंको अपनी मानना भूल है क्योंकि ये विभाव पर्याय हैं स्वभाव नहीं, महानिंदित हैं, इनको अपनानेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है और संसारमें भ्रमण करना पड़ता है इसलिये जो जीव निराकुलतामय सुखके अभिलाषी हैं उन्हैं चाहिये कि वे शरीर आदि पर्ययोंका चिंतवन करना छोड़ दें और आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करैं ॥ ३ ॥

स्वर्णैरत्नैर्गृहैः स्त्रीसुतरथशिविकाश्वेभभृत्यैरसंख्यै-
भूषावस्त्रैः स्रगाद्यैर्जनपदनगरैश्चामरैः सिंहपीठैः ॥
छत्रैरस्त्रैर्विचित्रैर्वरतरशयनैर्भाजनैर्भोजनैश्च
लब्धैः पांडित्यमुख्यैर्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यह पुरुष मोहकी तीव्रतासे आकुलताके कारण स्वरूप भी सुवर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन, और विद्वत्ता आदिसे व्याकुल नहिं होता। भावार्थ—जहां चित्तको आकुलता नहि रहती वहीं शांति मिलती है सुवर्ण रत्न घर स्त्री आदि पदार्थोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमें चित्त सदा व्याकुल वना रहता है इसलिये उनको अपनानेसे आत्मा निराकुल नहिं होसकता परंतु

यह जीव मोहकी तीव्रतासे ऐसा मूढ होरहा है कि सुवर्ण स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंके अपनानेसे अनंत कष्ट भोगने पर भी यह जरा भी कष्ट नहि मानता उनसे रत्तीभर भी इसका चित्त व्याकुल नहि होता ॥ ४ ॥

रैगोभार्याः सुताश्वा गृहवसनरथाः क्षेत्रदासीभशिष्याः
कर्पूराभूषणाद्यापणवनाशिविका बंधुमित्रायुधाद्याः ॥
मंचा वाप्यादिभृत्यातपहरणखगाः सूर्यपात्रासनाद्याः
दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमतिः सौख्यहेतून् किलैतान् ॥ ५ ॥

अर्थ—देखो ! इस बुद्धिशून्य जीवकी समझदारी ! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री, पुत्र, अश्व, घर, वस्त्र, रथ, क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, आभूषण, बाजार, वन, पालकी, बंधु, मित्र, आयुध, मांच, (पलंग) बावड़ी, भृत्य, छत्र, भाजन, और आसन आदि पदार्थ दुःखके कारण हैं जिन्हैं अपनानेसे जरा भी सुख नहिं मिलता उन्हैं यह सुखके कारण मानता है अपने मान रातदिन उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है ॥ ५ ॥

हंस ! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा ।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा ॥ ६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिसप्रकार प्रतिदिन तू परद्रव्योंका स्मरण करता है स्त्री पुत्र आदिको अपना मान उन्हींकी चिंतामें मग्न रहता है उसीप्रकार यदि तू शुद्धचिद्रूपका भी स्मरण करै-उसीके ध्यान और चिंतवनमें अपना समय व्यतीत करै तो क्या तेरे लिये मोक्ष समीप न रहजाय ! अर्थात् तू बहुत शीघ्र ही मोक्ष सुखका अनुभव करने लगजाय ॥ ६ ॥

लोकस्य चात्मनो यत्नं रंजनाय करोति यत् ।
तच्चेन्निराकुलत्वाय तर्हि दूरे न तत्पदं ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार यह जीव अपने और लोकके रंजायमान करनेकेलिये प्रतिदिन उपाय करता रहता है उसी प्रकार यदि निराकुलतामय-मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिये उपाय करै तो वह मोक्षस्थान जरा भी उसके लिये दूर न रहै-बहुत जल्दी प्राप्त होजाय ॥ ७ ॥

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ॥ ८ ॥

अर्थ—अपने और परके रंजायमान करनेवाले चिदात्मामें जो जीवका परिणाम लगता है वह तो विभाव

परिणाम गिना जाता है और निराकुल शुद्धचिद्रूपमें जो लगता है वह स्वभाव परिणाम कहा जाता है तथा इस परिणामसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है—उसके विना कदापि सच्चा सुख नहिं मिल सकता ॥ ८ ॥

संयोगविप्रयोगौ च रागद्वेषौ सुखासुखे ।
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं दृश्येते तद्भवं त्यज ॥ ९ ॥

अर्थ—क्या तो यह भव और क्या परभव ! दोनों भवोंमें जीवको संयोग, वियोग, राग द्वेष, और सुख दुःखका सामना करना पड़ता है इसलिये हे आत्मन् ! तू इस संसारका त्याग कर दे । भावार्थ—इष्ट स्त्री पुत्र आदिसे मिलाप होना संयोग है और उनसे जुदाईका नाम वियोग है । परपदार्थोंसे प्रेम करना राग और वैर रखना द्वेष है । इष्ट पदार्थोंके संबंधसे आत्मामें कुछ शांति होना सुख और अशांतिका होना दुःख है । ये सब बातें इस भव परभव दोनोंभवोंमें प्रत्यक्ष देखनेमें आतीं हैं और इनके संबंधसे सदा परिणामोंमें विकलता बनी रहती है इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू निराकुलतामय सुखका अनुभव करना चाहता है तो तू उसके मूलकारण संसारका ही सर्वथा त्याग कर दे—मोक्षस्थानको अपना घर बना ॥ ९ ॥

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥ १० ॥

अर्थ—शास्त्र सद्गुरु और साधर्मी भाइयोंसे अपनी आत्माका वास्तविक स्वरूप पहिचानकर उसी (आत्मा) का अवलंबन कर-उसीके स्वरूपका मनन ध्यान और चिंतवन कर, पर पदार्थोंका संसर्ग करना छोड़ दे-उन्हें अपने मत मान ॥ १० ॥

अवश्यं च परद्रव्यं नश्यत्येव न संशयः ।
तद्विनाशे विधातव्यो न शोको धीमता क्वचित् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो परद्रव्य है उसका नाश अवश्य होता है कोई भी उसके नाशको नहिं रोक सकता इसलिये जो पुरुष बुद्धिमान हैं स्वद्रव्य और परद्रव्यके स्वरूपके भलेप्रकार जानकार हैं उन्हें चाहिये कि वे उनके नाश होनेपर कभी किसीप्रकारका शोक न करै ॥ ११ ॥

त्यक्त्वा मां चिदचित्संगा यास्यंत्येव न संशयः ।
तानहं वा च यास्यामि तत्प्रीतिरिति मे वृथा ॥ १२ ॥

अर्थ—ये चेतन अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रह अवश्य मुझै छोड़ देंगे और मै भी सदा काल इनका संग नहिं दे सकता-मुझै भी ये अवश्य छोड़देने पड़ेंगे इसलिये मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है। भावार्थ—

स्त्री पुत्र आदि चेतन, सुवर्ण रत्न आदि अचेतन परिग्रह यदि सदा काल मेरे साथ रहैं वा मैं सदा काल इनके साथ रहा आऊं तब तो इनके साथ मेरा प्रेम करना ठीक है परंतु मेरा तो इनके साथ जिन दिनोंका संबंध है उन्हीं दिनोंका है-अवधिके पूर्ण हो जानेपर न मैं अधिक कालतक इनके साथ रह सकता हूं और न ये ही मेरे साथ रह सकते हैं इसलिये मेरा इन्हें अपनाना-इनके साथ प्रेम करना निष्प्रयोजन है ॥ १२ ॥

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत् ।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलंबिनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मैं अब तत्त्वावलंबी होचुका हूं-अपना और पराया मुझे पूर्ण ज्ञान होगया है इसलिये शास्त्रोंसे उत्पन्न हुआ परद्रव्योंका ज्ञान भी जब मेरे लिये हेय-त्यागने योग्य है तब उन परद्रव्योंके ग्रहणका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये उनकी ओर झांककर भी मुझे न देखना चाहिये । भावार्थ—यद्यपि आत्मस्वरूपके जाननेके लिये शास्त्र वा गुरु आदि-के उपदेशसे परद्रव्यके स्वरूपका ज्ञान करना पड़ता है परंतु जिसकी दृष्टि सर्वथा शुद्धचिद्रूपकी ओर झुकगई है-जो तत्त्वावलंबी होगया है उसकेलिये जब परद्रव्यका ज्ञान भी हेय है-त्यागने योग्य है (क्योंकि वह शुद्धचिद्रूप-की प्राप्तिमें बाधक है) तब उसे परद्रव्योंका तो सर्वथा त्याग करदेना ही चाहिये क्योंकि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें बलवान बाधक हैं-परद्रव्योंके अपनानेसे तो शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कभी हो ही नहिं सकती ॥ १३ ॥

स्वर्णैरत्नैः कलत्रैः सुतगृहवसनैर्भूषणै राज्यखार्थै-
गोंहस्त्यश्वैश्च पद्भैः रथवरशिविकामित्रमिष्टान्नपानैः ।
चिंतारत्नैर्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-
चिद्रूपाप्तिं विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदा कापि कोपि ॥ १४ ॥

अर्थ—कोई भी प्राणी क्यों न हो जब तक उसै शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं होती तब तक चाहैं उसके पास सुवर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर, वस्त्र, भूषण, राज्य, इंद्रियोंके उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदाति सेना, रथ, पालकी, मित्र, महामिष्ट अन्न पान, चिंतामणि रत्न, खजाने, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों उनसे वह कहीं किसीकालमें भी कृतकृत्य नहिं हो सकता। भावार्थ-सुवर्ण रत्न हाथी घोड़े आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं-सदाकाल विद्यमान नहिं रह सकते और पर हैं परंतु शुद्धचिद्रूप शाश्वत है, कभी भी इसका नाश नहिं हो सकता और निज है इसलिये सुवर्ण आदि पदार्थोंके प्राप्त हो जानेपर भी मनुष्य कृतकृत्य नहिं हो सकता-संसारमें उसै बहुतसे कार्य कारनेकेलिये वांकी रहजाते हैं किंतु जिससमय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाती है उससमय कोई काम करनेकेलिये वाकी नहीं रहता—शुद्धचिद्रूपका स्वामी जीव सदा काल निराकुलतामय शाश्वत सुखका अनुभव करता रहता है ॥ १४ ॥

परद्रव्यासनाभ्यासं कुर्वन् योगी निरंतरं ।
कर्मांगादिपरद्रव्यं मुक्त्वा क्षिप्रं शिवी भवेत् ॥ १५ ॥

अर्थ—निरंतर परद्रव्योंके त्यागका चिंतवन करनेवाला योगी शीघ्रही कर्म और शरीर आदि परद्रव्योंसे रहित होजाता है और परमात्मा बन मोक्षसुखका अनुभव करने लगता है ॥ १५ ॥

कारणं कर्मबंधस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि परद्रव्योंके चिंतवनसे केवल कर्मबंध होता है और स्वद्रव्य-विशुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे केवल मोक्षसुख ही प्राप्त होता है-संसारमें भटकना नहिं पड़ता ॥ १६ ॥

प्रादुर्भवंति निःशेषा गुणाः स्वाभाविकाश्रितः ।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात् ॥ १७ ॥

अर्थ—समस्त परद्रव्योंके सर्वथा त्यागसे—उन्हें न अपनानेसे आत्माके स्वाभाविक गुण-केवलज्ञान आदि प्रकट होते हैं और दोषोंका नाश होता है ॥ १७ ॥

समस्तकर्मदेहादिपरद्रव्यविमोचनात् ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या सा मुक्तिरिति कथ्यते ॥ १८ ॥

अर्थ--कर्म और शरीर आदि परद्रव्योंके सर्वथा त्यागसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है और उसे ही यतिगण मोक्ष कहकर पुकारते हैं। भावार्थ--समस्त कर्मोंका नाश होजाना मोक्ष बतलाया है और वही विशुद्धचिद्रूप है क्योंकि विशुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके नाशसे होती है इसलिये विशुद्धचिद्रूप और मोक्षके नाममें भेद होनेपर भी अर्थमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १८ ॥

अतः स्वशुद्धचिद्रूपलब्धये तत्त्वविन्मुनिः ।
वपुषा मनसा वाचा परद्रव्यं परित्यजेत् ॥ १९ ॥

अर्थ--इसलिये जो मुनिगण भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं-स्व और परका भेद पूर्णरूपसे जानते हैं वे विशुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये मन वचन कायसे परद्रव्यका सर्वथा त्याग करदेते हैं-उसमें जरा भी ममत्व नहि करते ॥ १९ ॥

दिक्चेलैको हस्तपात्रो निरीहः साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी

मौनी कर्मौघेभसिंहो विवेकी सिद्ध्यै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽभिरक्तः ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै परद्रव्यत्यागप्रतिपादक. पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

अर्थ—जो मुनि दिगंबर. पाणिपात्रवाले, समस्त प्रकारकी इच्छाओंसे रहित. समताके अवलंबी, तत्त्वोंके वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियोंके विदारण करनेमें सिंह, विवेकी और शुद्धचिद्रूपमें लीन हैं वे ही परमात्मपद प्राप्त करते हैं-वे ही ईश्वर कहे जाते हैं अन्य नहीं ॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये परद्रव्योंके त्यागका प्रतिपादन करनेवाला पंद्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवां अध्याय ।

सद्बुद्धेः परंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च
ग्रंथार्थग्रहणस्य मानसवचोरोधस्य वाधाहतेः ।
रागादित्यजनस्य काव्यजमतेश्चेतो विशुद्धेरपि

हेतुः स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकं ॥ १ ॥

अर्थ—उत्तमज्ञान, परको रंजायमान करनेमें आकुलताका त्याग, समता, शास्त्रोंके अर्थका ग्रहण, मन और वचनका निरोध, राग द्वेष आदिका त्याग, कार्व्योंमें बुद्धिका लगना, मनकी निर्मलता, आत्मिक सुखका लाभ और ध्यान, निर्जन-एकांत स्थानके आश्रय करनेसे ही होता है। भावार्थ—जबतक उत्तम ज्ञान, समता, शास्त्र, ध्यान, और उत्तम आत्मिक सुख आदि प्राप्त नहिं होते तब तक किसीप्रकारसे आत्माको शांति नहीं मिल सकती और उनकी प्राप्ति एकांत स्थानके आश्रयसे होती है इसलिये जो मनुष्य उत्तम ज्ञान आदिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे पवित्र और एकांत स्थानका अवश्य आश्रय करें॥ १ ॥

पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति केनाचिन्मे प्रयोजनं।
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्त्तिना वा शिवार्थिनः ॥ २ ॥

अर्थ—मैं शिवार्थी हूं-अपनी आत्माको निराकुलतामय सुखका आस्वाद कराना चाहता हूं इसलिये मुझै शत्रु मित्र और मध्यस्थ किसी भी पासमें रहनेवाले जीवसे कोई प्रयोजन नहीं अर्थात् पासमें रहनेवाले जीव, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ सब मेरे कल्याणके बाधक हैं॥ २ ॥

इंदोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतबलं वर्द्धते मेघवृष्टे-
मोंह्यानां कर्मबंधो गद इव पुरुषस्यामभुक्तेरवश्यं ॥
नानावृत्ताक्षराणामवनिवरतले छंदसां प्रस्तरश्च
दुःखौघागो विकल्पास्रववचनकुलं पार्श्ववर्त्यंगिनां हि ॥ ३ ॥

अर्थ--जिसप्रकार चंद्रमाके संवंधसे समुद्र, वर्षासे नदीका जल, मोहके संवंधसे कर्मवंध, कच्चे भोजनसे पुरुषोंके रोग और नानाप्रकारके छंदके अक्षरोंसे शोभित प्रस्तारोंके संवधसे छंद उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार पार्श्ववर्ती जीवोंके संबंधसे नानाप्रकारके दुःख और विकल्पमय वचनोंका सामना करना पड़ना है। भावार्थ-जिसप्रकार समुद्रकी वृद्धिमें चंद्रमा, नदीके जलकी वढ़वारीमें मेघ, कर्मवंधमें मोह, रोगकी उत्पत्तिमें अपक्व भोजन, और छंदोंकी रचनामें प्रस्तार कारण हैं उसीप्रकार पार्श्ववर्ती जीवोंका संवंध नानाप्रकारके दुःखोंके देने और परिणामोंके विकल्पमय करनेमें कारण है इसलिये कल्याणके अभिलापियोंको वह सर्वथा वर्जनीय है ॥ ३ ॥

वृद्धिं यात्येधसो वान्हिर्वृद्धौ घर्मस्य वा तृपा।
चिंता संगस्य रोगस्य पीडा दुःखादिसंगतेः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार ईंधनसे अग्निकी, धूपसे प्यासकी और परिग्रह वा रोगसे चिंताकी वृद्धि होती है उसीप्रकार प्राणियोंकी संगतिसे पीड़ा और दुःख आदि सहन करने पड़ते हैं ॥ ४ ॥

विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजंबालजलधि–
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमताजालसदृशः ।
वरं स्थानं छेत्रीपविरविकरागस्तिजलदा–
गदज्वालाशस्त्रीसममतिभिदे तस्य विजनं ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके विकल्प, वेड़ी, पर्वत, कीचड़, समुद्र, दावाग्निका संताप, रोग, शीतलता और जालके समान होते हैं इसलिये उनके नाशकेलिये छैनी, वज्र, सूर्य, अगस्त नक्षत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरीके समान निर्जन स्थानका ही आश्रय करना उचित है । भावार्थ–जिसप्रकार वेड़ीके काटनेमें छेनी पर्वतके खंड खंड करनेमें वज्र, कीचड़के सुखानेमें सूर्य, समुद्रके जलको शुष्क करनेमें अगस्तिऋषि, वनाग्निके बुझानेमें मेघ, रोगके नाश करनेमें औषधि, शीतलता नष्ट करनेमें अग्नि, और जालके काटनेमें छुरी कारण है विना छेनी आदिके वेड़ी आदिका फंद कट नहीं सकता उसीप्रकार विकल्पोंके नाशकरनेमें निर्जन स्थान कारण है निर्जन स्थानको विना आश्रय किये विकल्प कभी नहिं हट सकते ॥ ५ ॥

तपसां वाह्यभूतानां विविक्तशयनासनं ।
महत्तपो गुणोद्भूतेरागत्यागस्य हेतुतः ॥ ६ ॥

अर्थ—वाह्य तपोंमें विविक्तशयनासन (एकांत स्थानमें सोना और बैठना) तपको महान तप बतलाया है क्योंकि इसके आराधन करनेसे आत्मामें गुणोंकी प्रगटता होती है और मोहका नाश होता है। भावार्थ—अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशयनासन और कायक्लेशके भेदसे वाह्य तप छै प्रकारका है परंतु उनसबमें उत्तम और महान् तप विविक्तशय्यासन ही है क्योंकि इसके आराधन करनेसे आत्मामें नानाप्रकारके गुणोंकी प्रकटता और समस्त मोहकी नास्ति होती है ॥ ६ ॥

काचिच्चिंता संगतिः केनचिच्च रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा ।
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां मूर्च्छा ज्ञेया ध्यानविध्वंसिनी च ॥ ७ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदिकी चिंता, प्राणियोंके साथ संगति, रोग आदिसे वेदना, तीव्रनिद्रा और क्रोधमान आदि कषायोंकी उत्पत्ति होना मूर्च्छा है और इस मूर्च्छासे ध्यानका सर्वथा नाश होता है। भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारके परिणामका नाम मूर्च्छा है इसलिये इससे मनुष्यको नानाप्रकारकी चिंतायें, प्राणियोंके साथ संगति,

रोग आदिसे तीव्रवेदना, अधिकनिद्रा और क्रोध मान माया आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती है तथा ध्यानका नाश होता है-मूर्छित मनुष्य किसीप्रकारका ध्यान नहिं करसकता ॥ ७ ॥

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥ ८ ॥

अर्थ—बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग, एकांतस्थान, तत्त्वोंका ज्ञान, समस्तप्रकारकी चिंताओंसे रहितपना, किसीप्रकारकी बाधाका न होना और मन वचन कायका वश करना ये ध्यानके कारण हैं और इनहीके आश्रय करनेसे मुनियोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

विकल्पपरिहाराय संगं मुंचंति धीधनाः ।
संगतिं च जनैः सार्द्धं कार्यं किंचित्स्मरंति न ॥ ९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं-स्व और परके स्वरूपके जानकार होकर अपनी आत्माका कल्याण करना चाहते हैं वे संसारके कारणस्वरूप विकल्पोंके नाश करनेकेलिये बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करदेते हैं दूसरे मनुष्योंके साथ संगति और किसीकार्यका चिंतवन भी नहिं करते ॥ ९ ॥

वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयंति यथांगिनः ।
विकल्पाश्च तथात्मानं तेषु सत्सु कुतः सुखं ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार शरीरपर एक साथ लगे हुये अनेक विच्छू प्राणीको काटते और दु खित बनाते हैं उसी-प्रकार अनेक प्रकारके विकल्प भी आत्माको बुरीतरह दुःखाते हैं जरा भी शांतिका अनुभव नहिं करने देते इसलिये उन विकल्पोंकी मोजूदगीमें आत्माको कैसे सुख होसकता है? विकल्पोंके जालमें फसकर रत्तीभर भी यह जीव सुखका अनुभव नहिं कर सकता ॥ १० ॥

वाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं ।
अंतःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥ ११ ॥

अर्थ—जब मुझै वाह्य संगतिके त्यागसे ही परम सुखकी प्राप्ति होती है तब अंतरंग संगतिके त्यागसे तो और भी अधिक सुख मिलैगा। भावार्थ—जब मुझै स्त्री पुत्र आदि वाह्य पदार्थोंकी संगतिके त्यागसे ही परम सुख प्राप्त होता है तब राग द्वेष आदि अंतरंग पदार्थोंकी संगतिके त्यागसे तो उससे भी अधिक सुख मिलैगा ॥११॥

वाह्यसंगतिसंगेन सुखं मन्येत मूढधीः ।

तत्त्यागेन सुधीः शुद्धचिद्रूपध्यानहेतुना ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुग्ध हैं-अपना पराया जरा भी भेद नहिं जानते वे वाह्य पदार्थोंकी संगतिसे अपनेको सुखी मानते हैं परंतु जो बुद्धिमान हैं-तत्त्वोंके भलेप्रकार वेत्ता हैं वे यह जानकर कि वाह्य पदार्थोंकी संगतिका त्यागही शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें कारण है-उसके त्यागसे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान हो सकता है वाह्य पदार्थोंका सहवास न करनेसे ही अपनेको सुखी मानते हैं ॥ १२ ॥

अवमोदर्यात्साध्यं विविक्तशय्यासनाद्विशेषेण ।
अध्ययनं सध्यानं मुमुक्षुमुख्याः परं तपः कुर्युः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुमुक्षुओंमें मुख्य हैं बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवमोदर्य और विविक्त-शय्यासनकी सहायतासे निष्पन्न ध्यानके साथ अध्ययन स्वाध्याय रूप परम तपका अवश्य आराधन करें। भावार्थ-ध्यान और स्वाध्याय तप तभी सिद्ध हो सकते हैं जब अवमोदर्य (थोड़ा अहार करना) और विविक्तशय्यासन तपोंका विशेषरूपसे आश्रय किया जाय क्योंकि जो मनुष्य गरिष्ठ वा भरपेट भोजन करेगा और जनसमुदायमें रहैगा वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नहिं कर सकता इसलिये उत्तम पुरुषोंको स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके-लिये आलस्य न दवा वैठे इसकारण बहुत कम आहार और एकांत स्थानका आश्रय करना चाहिये ॥ १३ ॥

ते वंद्याः गुणिनस्ते च ते धन्यास्ते विदांवराः ।
वसंति निर्जने स्थाने ये सदा शुद्धचिद्रताः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपमें अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्तिके लिये निर्जन स्थानमें निवास करते हैं संसारमें वे ही वंदनीक-सत्कारके योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानोंके शिरोमणि हैं-अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हींका आदर सत्कार करते हैं और उन्हें ही गुणी धन्य और विद्वानोंमें उत्तम मानते हैं ॥ १४ ॥

निर्जनं सुखदं स्थानं ध्यानाध्ययनसाधनं ।
रागद्वेषविमोहानां शातनं सेवते सुधीः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह निर्जन स्थान अनेक प्रकारके सुख प्रदान करनेवाला है ध्यान और अध्ययनका कारण है राग द्वेष और मोहका नाश करनेवाला है इसलिये बुद्धिमान पुरुष अवश्य उसका आश्रय करते हैं ॥ १५ ॥

सुधाया लक्षणं लोका वदंति बहुधा मुधा ।
बाधाजंतुजनैर्मुक्तं स्थानमेव सतां सुधा ॥ १६ ॥

अर्थ—लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकारसे बतलाते हैं परंतु वह ठीक नहीं मिथ्या है क्योंकि

जहांपर किसी प्रकारकी बाधा, डांस मच्छर आदि जीव और जनसमुदाय न हो ऐसे एकांत स्थानका नाम ही वास्तवमें सुधा है। भावार्थ–जो सुख देनेवाला हो वही सुधा--अमृत है शुद्धचिद्रूपके अभिलाषियोंको समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित एकांत स्थान सुखका देनेवाला है इसलिये उनकेलिये वही अमृत है और लोककथित अमृत, अमृत नहीं है ॥ १६ ॥

भूमिगृहे समुद्रादितटे पितृवने वने ।
गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं-हित अहितके जानकार हैं वे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सिद्धिकेलिये जमीनके भीतर घरोंमें- सुरंगोंमें, समुद्र नदी आदिके तटोंपर श्मशान भूमियोंमें, और वनगुफा आदि निर्जन स्थानोंमें निवास करते हैं ॥ १७ ॥

विविक्तस्थानकाभावात् योगिनां जनसंगमः ।
तेषामालोकनेनैव वचसा स्मरणेन च ॥ १८ ॥
जायते मनसः स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः ।

तेभ्यः क्लेशो भवेत्तस्मान्नाशं याति विशुद्धता ॥ १९ ॥
तया विना न जायेत शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
विना तेन न मुक्तिः स्यात् परमाखिलकर्मणां ॥ २० ॥ चतुःकलं ॥
तस्माद्विविक्तसुस्थानं ज्ञेयं संक्लेशनाशनं ।
मुमुक्षुयोगिनां मुक्तेः कारणं भववारणं ॥ २१ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै निर्जनस्थानाश्रयणप्रतिपादकः षोडशोऽध्यायः ॥

अर्थ—एकांत स्थानके अभावसे योगियोंको जनोंके संघट्टमें रहना पड़ता है इसलिये उनके देखने, वचन सुनने और स्मरणकरनेसे उनका मन चंचल हो उठता है। मनकी चंचलतासे विशुद्धिका नाश होता है और विशुद्धिके विना शुद्धचिद्रूपका चिंतवन नहिं हो सकता तथा विना उसके चिंतवन किये समस्त कर्मोंके नाशसे होनेवाली मोक्ष नहिं प्राप्त हो सकती इसलिये मोक्षाभिलाषी योगियोंको चाहिये कि वे एकांत स्थानको समस्त दुःखोंका दूर करनेवाला मोक्षका कारण और संसारका नाश करनेवाला जान अवश्य उसका आश्रय करै ॥ १८–२१ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मिततत्त्वज्ञानतरंगिणीमें 'शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये निर्जन स्थानके आश्रयका बतलानेवाला सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवां अध्याय।

मुक्ताविद्रुमरत्नधातुरसभूवस्त्राशरुग्भूरुहां
स्त्रीभाश्वाहिगवां नृदेवविदुषां पक्षांबुगानामपि।
प्रायः संति परीक्षकाः भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो
दृश्यंते खभवे रताश्च वहवः सौख्ये च नातींद्रिये॥ १॥

अर्थ---इस संसारमें मोती, मूगा, रत्न, धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष, स्त्री, हाथी, घोडे, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी, और जलचर जीवोंकी परीक्षा करनेवाले अनेक मनुष्य हैं! इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये ऐंद्रियिक सुखमें भी वहुतसे अनुरक्त हैं परंतु निराकुलतामय सुखकी परीक्षा और उसमें अनुराग करनेवाले वहुत ही थोड़े हैं। भावार्थ--इससंसारमें परीक्षा करनेवाले विद्वान पुरुषोंकी और सुखके अनुभव करनेवालोंकी कमी नहीं है परंतु वे यह नहिं समझते कि हम किस वातकी परीक्षा और कैसे सुखका अनुभव करना चाहिये? वहुतसे मनुष्य मोती मूगा रत्न सुवर्ण आदि धातु उत्तमोत्तम रस पृथ्वी रोग हाथी अश्व आदि पदार्थोंकी परीक्षामें प्रवीण हैं इंद्रिय जन्य सुखोंका भी पूर्णतया अनुभव करना जानते हैं परंतु उनकी उसप्रकारकी परीक्षा और अनु-

भव कार्यकारी नहीं क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं, नित्य पदार्थ निराकुलतामय सुख है इसलिये उसीकी परीक्षा और अनुभवसे कार्य और कल्याण हो सकता है ॥ १ ॥

निर्द्रव्यं स्ववशं निजस्थमभयं नित्यं निरीहं शुभं
निर्द्वंद्वं निरुपद्रवं निरुपमं निर्बंधमूहातिगं ॥
उत्कृष्टं शिवहेत्वदोषममलं यद्दुर्लभं केवलं
स्वात्मोत्थं सुखमीदृशं च खभवं तस्माद्विरुद्धं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख; निर्द्रव्य है-पर द्रव्योंके सपर्कसे रहित है, स्वाधीन, आत्मिक भयोंसे रहित, नित्य, समस्त प्रकारकी इच्छाओंसे रहित, शुभ, निर्द्वंद्व, सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित, अनुपम, कर्मबंधोंसे रहित, तर्कवितर्कके अगोचर, उत्कृष्ट, कल्याणोंका करनेवाला, निर्दोप, निर्मल, और दुर्लभ है परंतु इंद्रियजन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है वह परद्रव्योंके संबंधसे होता है पराधीन, पर, नानाप्रकारके भयोंका करनेवाला, विनाशीक, अनेक प्रकारकी इच्छा उत्पन्न करनेवाला, अशुभ, आकुलतामय, अनेक प्रकारके उपद्रवोंको खड़ा करनेवाला, महानिंदनीक, कर्मबंधका कारण, महानिकृष्ट, दुःख देनेवाला, अनेक प्रकारके दोप और मलोंका भंडार और सुलभ है इसलिये सुखाभिलाषी जीवोंको चाहिये कि निराकुलतामय सुखकी प्राप्तिका उपाय करें ॥ २ ॥

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये हित्वा च संगं त्रिधा
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयं ।
त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मिक शांतिमय सुखके अभिलाषी हैं उसे हस्तगत करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे संसार शरीर और भोगोंका त्यागरूप तीनप्रकारका वैराग्य धारण कर, चेतन अचेतन और मिश्र तीनोंप्रकारका परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रंथ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयका आश्रय कर, दूसरे जीवोंका सहवास और राग द्वेष आदिका सर्वथा त्यागकर सब उपद्रवोंसे रहित एकांत स्थानमें निवास करैं। भावार्थ—जबतक संसार शरीर और भोगोंसे ममत्व न हटैगा सुवर्ण रत्न क्रोध मान और स्त्री पुत्र दासी दास आदि परिग्रहका त्याग न होगा, श्रेष्ठगुरु निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका आराधन न किया जायगा, अन्य मनुष्योंका सहवास और राग आदि दूर न करदिये जांयगे और एकांत स्थानमें निवास न किया जायगा तबतक निराकुलतामय सुख प्राप्त होना सर्वथा असंभव है इसलिये जो मनुष्य इस सुखके अभिलाषी हैं उन्हैं चाहिये कि वे उपर्युक्त बातोंपर अवश्य ध्यान दें॥ ३ ॥

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥ ४ ॥

अर्थ—इंद्रियजन्य सुख, सुख नहीं है किंतु मनुष्योंकी अभिलाषाजन्य वेदनाओंका नष्ट करनेवाला सुख, सुख है और वह सुख, निराकुलरूपसे और शुद्ध परिणामसे जो अपने चिदानंदस्वरूप--आत्मामें स्थितिका होना है वह है। भावार्थ–जिस सुखसे हमारी अभिलाषा और वेदनायें नष्ट हों वही वास्तवमें सुख है इंद्रियजन्य सुख, सुख नहिं कहा जा सकता क्योंकि वह परिणाममें दुःख देने वाला है और अभिलाषा तथा वेदनाओंका उत्पादक है इसलिये उस अनुपम सुखको प्राप्त करनेके लिये निराकुलता और विशुद्ध परिणामोंसे अपनी आत्मामें स्थिति करनी चाहिये ॥ ४ ॥

नो द्रव्यात्कीर्तितः स्याच्छुभखविषयतः सौधतूर्यत्रिकाद्वा
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्यादृतुभ्यः ।
राज्यात्संराजमानात् बलवसनसुतात्सत्कलत्रात्सुगीतात्
भूषाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात् ॥५॥

अर्थ—यह निराकुलतामय तात्त्विक सुख न द्रव्यसे प्राप्त हो सकता है न कीर्ति, इंद्रियोंके शुभ विषय, उत्तम महल और गाजे बाजोंसे मिलसकता है उत्तम रूप, इष्ट पदार्थोंका समागम, अनिष्टोंका वियोग और उत्तमोत्तम क्रीड़ा आदि भी इसे प्राप्त नहिं करा सकते। छै ऋतु, राज्य, राजाकी ओरसे सन्मान, सेना, उत्तम वस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्णप्रिय गाना, भूषण, एवं वृक्ष, पर्वत और सवारी आदिसे भी प्राप्त नहिं हो सकता क्योंकि द्रव्य आदिके संबंधमे चित्त व्याकुल रहता है और चित्तकी व्याकुलता, निराकुलतामय सुखको रोकनेवाली होती है। भावार्थ—चाहै मनुष्य कैसा भी द्रव्यपात्र क्यों न होजाय! कीर्ति इंद्रियोंके विषय, महल, रूप, राज्य, आदि पदार्थ भी उसके क्यों न यथेष्ट हो जांय परंतु उनसे वह निराकुलतामय सुखका अनुभव नहिं करसकता सदा उसके परिणाम द्रव्य कीर्ति आदि पदार्थोंके जुटानेमें ही व्यग्र रहते हैं ॥ ५ ॥

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य मोहसे मूढ़ और परसमयमें रत हैं-परपदार्थोंको अपनानेवाले हैं वे चाहैं पुर, गांव, वन

पर्वतके अग्रभाग, समुद्र नदी आदिके तट, मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामंडप और तंबू आदि स्थानोंमें किसी स्थानपर निवास करैं, उन्हें निराकुलतामय सुखका कणतक प्राप्त नहिं हो सकता अर्थात् मोह और परद्रव्योंका प्रेम निराकुलतामय सुखका बाधक है ॥ ६ ॥

निर्गोते गूथकीटे पशुनृपतिगणे भारवाहे किराते
सरोगे मुक्तरोगे धनवति विधने वाहनस्थे च पद्गे।
युवादौ बालवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्
सदा वा सर्वदैवैतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वं ॥ ७ ॥

अर्थ—निगोदिया जीव, विष्टाके कीड़ा, पशु, राजा, भार वहनकरनेवाले, भील, रोगी, नीरोग, धनवान, निर्धनी, सवारीपर घूमनेवाले, पैदल चलनेवाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवोंमें जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख कभी वा सदा देखनेमें आता है उससे क्या प्रयोजन? अथवा वह सर्वदा ही बना रहै तबा भी क्या प्रयोजन! क्योंकि वह पहिले कभी भी नहिं प्राप्त हुआ ऐसा निराकुलतामय सुख नहिं है अर्थात् इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख विनाशीक है और सुलभरूपसे कहीं न कहीं कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है परंतु निराकुलतामय सुख नित्य अविनाशी है

और आत्माको विना विशुद्ध किये कभी प्राप्त नहिं हो सकता इसलिये इंद्रिय सुख कैसा भी क्यों न हो वह कभी निराकुलतामय सुखकी तुलना नहिं कर सकता ॥ ७ ॥

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥ ८ ॥

अर्थ—पदार्थोंका देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान) सिद्ध और संसारी दोनोंके होता है परंतु सिद्धों-के वह निर्विकल्प-आकुलतारहित और संसारी जीवोंके सविकल्प-आकुलतासहित होता है ॥ ८ ॥

व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः ।
कर्मबंधोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस ज्ञानकी मोजूदगीमें आकुलता हो वह ज्ञान सविकल्पक और जिसमें आकुलता न हो वह ज्ञान निर्वि-कल्पक कहा जाता है उनमें सविकल्प ज्ञानके होनेपर कर्मोंका बंध और दुःख भोगना पड़ता है और निर्विकल्पक ज्ञानके होनेपर कर्मोंका अभाव और परम सुख प्राप्त होता है। भावार्थ-मनःपर्यय ज्ञान और अवधिदर्शन तक जितने ज्ञान और दर्शन हैं सब सविकल्पक हैं। उनकी विद्यमानतामें कुछ न कुछ आत्मामें विकल्प हुआ ही

करते हैं और विकल्पोंसे कर्मबंध एवं दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु जिससमय केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप निर्विकल्पक दर्शन ज्ञान प्राप्त होजाते हैं उससमय समस्त विकल्प शांत होजाते हैं कर्मोंका नाश और निराकुलता-मय सुख भी प्राप्त होजाता है ॥ ९ ॥

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥ १० ॥

अर्थ—आकुलताके भंडार इस सविकल्पक सुखका मैंने बहुत बार अनुभव किया है-जिस गतिके अंदर गया हूं वहां मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है इसलिये वह मेरे लिये अपूर्व नहीं है परंतु निराकुलतामय-निर्विकल्पक सुख मुझे कभी प्राप्त नहिं हुआ इसलिये उसीकी प्राप्तिकेलिये मेरी अत्यंत इच्छा है-वह कब मिले इस आशासे सदा मेरा चित्त भटकता फिरता है ॥ १० ॥

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः ।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥ ११ ॥

अर्थ—रागी द्वेषी और मोही चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है वह दुःखस्वरूप है-उसज्ञानसे

जीवोंको दुःख भोगना पड़ता है और वीतराग वीतद्वेष और वीतमोह चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है वह सुख स्वरूप है-उस ज्ञानसे सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

रवेः सुधायाः सुरपादपस्य चिंतामणेरुत्तमकामधेनोः ।
दिवो विदग्धस्य हरेरखर्वं गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णुके अखंड भी गर्वको देखते देखते चूरकरनेवाला है और विजयशील है। भावार्थ–यह चिदात्मा दीप्तिमें सूर्यसे भी चढ़ बढ़कर है-महादीप्तिमान है, आनंद प्रदानकरनेमें अमृतको भी जीतनेवाला है, कल्पवृक्ष चिंतामणि और कामधेनुसे भी अधिक इच्छाओंका पूरण करनेवाला है। स्वर्गसे भी अधिक सुख देनेवाला, अपनी विद्वत्तासे विद्वानकी विद्वत्ता जीतनेवाला, और विष्णुसे अधिक अखंडप्रतापका भंडार है ॥ १२ ॥

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस अचल शांतिसे संसारमें यह मालूम होता है कि यह चिंता है यह दुःख है यह सुख और

शांति है- वह (शांति) इसी शुद्धचिद्रूपमें लीनतासे होती है-विना शुद्धचिद्रूपमें लीनता किये चिंता दुःख आदिके अभावके स्वरूपका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ १३ ॥

मुंच सर्वाणि कार्याणि संगं चान्यैश्च संगतिं ।
भो भव्य ! शुद्धचिद्रूपलये वांछास्ति ते यदि ॥ १४ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू शुद्धचिद्रूपमें लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो तू सांसारिक समस्त कार्य, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रह और दूसरोंका सहवास सर्वथा छोड़ दे ॥ १४ ॥

मुक्ते वाह्ये परद्रव्ये स्यात्सुखं चेच्चितो महत् ।
सांप्रतं किं तदादोऽतः कर्मादौ न महत्तरं ॥ १५ ॥

अर्थ—जब वाह्य परद्रव्यके नाश होजानेपर भी आत्माको महान् सुख मिलता है तब कर्म आदिके नाश होजानेपर तो उससे भी अधिक महान् सुख प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

इंद्रियैश्च पदार्थानां स्वरूपं जानतोऽगिनः ।
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत् ॥ १६ ॥

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं॥ १७॥

अर्थ—इंद्रियोंके द्वारा पदार्थोंके स्वरूप जाननेवाले इस जीवका जो उनमें राग होता है वह सुख और द्वेष होता है वह दुःख है यह मानना नितांत भ्रम है किंतु जो पुरुष राग और द्वेष आदिसे रहित है समस्त पदार्थोंका जानकार है उसके जो समस्त प्रकारकी आकुलताका त्याग है-निराकुलता है वही वास्तविक सुख है। भावार्थ—यह जीव स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोंमें कुछ राग होनेसे सुख और उनमें द्वेष होजानेसे दुःख मानता है परंतु वास्तवमें वे दोनों ही (राग द्वेष) दुःखस्वरूप हैं क्योंकि उनसे जीवके परिणाम आकुलतामय रहते हैं किंतु जहांपर आकुलता न हो वही वास्तविक सुख है और वह सुख राग द्वेष आदिसे रहित समस्त पदार्थोंके जाननेवाले महान पुरुषके ही होता है॥ १६॥ १७॥

इंद्राणां सार्वभौमानां सर्वेषां भावनेशिनां।
विकल्पसाधनैः खार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखं कुतः॥ १८॥
तात्त्विकं च सुखं तेषां ये मन्यंते ब्रुवंति च।
एवं तेषामहं मन्ये महती भ्रांतिरुद्गता॥ १९॥

अर्थ—इंद्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवोंके स्वामियोंके जितने स्वार्थ-इंद्रियोंके विषय होते हैं वे विकल्पोंसे होते हैं-अपने अर्थोंके सिद्ध करनेमें उन्हें नानाप्रकारके विकल्प करने पड़ते हैं और उन विकल्पोंसे चित्त सदा आकुलतामय रहता है इसलिये सुख नामका पदार्थ-वास्तविक सुख उन्हें कभी प्राप्त नहिं होता। परंतु जो पुरुष, उनके सुखको वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुखकी वास्तविक सुखमें गणना करते हैं मै (ग्रंथकार) समझता हूं उनकी वह वडी भारी भूल है—वह सुख कभी वास्तविक सुख नहिं हो सकता ॥ १८ ॥ १९ ॥

विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने पदे स्थितानां सुखमत्र योगिनां।
विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां विदां यथा स्यान्न हि कस्य चित्तथा ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविराचिताया तत्त्वज्ञानतरगिण्या शुद्धचिद्रूपरुचये सुखस्वरूपप्रतिपादकः सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अर्थ—इसलिये जो योगिगण वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्यागकर निरुपद्रव एकांत स्थानमें निवास करते हैं, विवेकी—हित अहितके जानकार हैं, शुद्धचिद्रूपमें रक्त हैं और विद्वान हैं उन्हें ही यह निराकुलतामय सुख प्राप्त होता है उनसे अन्य किसी भी मनुष्यको नहीं ॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें 'शुद्धाचिद्रूपमें प्रेम वढे' इसकारण वास्ताविक सुखका प्रतिपादन करनेवाला सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवां अध्याय।

श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणमपि दृढं चेतसा यो विधाय
कृत्वांतःस्थैर्यबुद्ध्या परमनुभवनं तल्लयं याति योगी।
तस्य स्यात्कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्नभव्यस्य नूनं ॥ १ ॥

अर्थ—जो योगी 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा भलेप्रकार श्रवण और श्रद्धान कर, वचन और मनसे उसेही दृढ रूपसे धारण कर, अंतरंगको स्थिरकर और परपदार्थोंको जानकर उसका (शुद्धचिद्रूपका) अनुभव और उसमें अनुराग करता है वह आसन्न भव्य-बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी क्रमसे समस्त कर्मोंका नाशकर अतिशय विशुद्ध मोक्ष मार्ग, और निराकुलतामय आत्मिक सुखका लाभ करता है। भावार्थ-मैं शुद्धचिद्रूप हूं ऐसा विना श्रद्धान और ज्ञान किये शुद्धचिद्रूपमें अनुराग नहिं हो सकता, अनुरागके विना उसका अनुभव, अनुभव न करनेसे कर्मोंका नाश, कर्मोंका नाश न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे शांतिमय सुख कदापि नहिं मिल सकता ॥१॥

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने।

व्रतांगीकरणे पश्चात्संयमग्रहणे ततः ॥ २ ॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिंतने पश्चादयमुक्तो बुधैः क्रमः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य गृहस्थ हैं उन्हें सबसे पहिले स्वाध्याय प्रतिक्रमण आदि छै आवश्यक कर्मोंके पालनेकी पश्चात् व्रतोंके धारण करनेकी और फिर संयम ग्रहण करनेकी शिक्षा देनी चाहिये परंतु जो यति हैं-निर्ग्रंथरूप धारणकर वनवासी होगये हैं उन्हें सबसे पहिले संयम पालनेकी और पीछे शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकी शिक्षा देनी चाहिये ॥२-३॥

संसारभीतितः पूर्वं रुचिर्मुक्तिसुखे दृढा ।
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोस्ति तत् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन मनुष्योंकी संसारके भयसे पहिले ही मोक्षसुखकी प्राप्तिमें रुचि दृढ़ है-जल्दी संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं समझलेना चाहिये उन्हें मुक्तिकी प्राप्तिका सुगम उपाय मिलगया-वे बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करसकते हैं। भावार्थ—जबतक मोक्ष पानेकी हृदयमें कामना नहिं होती- मोक्ष सुखके अनुभव करनेमें प्रेम नहिं होता तबतक कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती और उसमें प्रेम करनेसे तो वह शीघ्र ही मिल जाती है तथा जिनकी रुचि संसारसे भयभीत होनेके बाद मुक्तिसुखमें होती है यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं परंतु जो संसारके भयसे पहिले

ही मोक्षसुखमें प्रेम करनेवाले हैं वे सुगमतासे बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं--अधिक काल तक उन्हें संसारमें नहिं भटकना पड़ता ॥ ४ ॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्पक हैं-समस्त प्रकारकी आकुलताओंसे रहित हैं और शुद्धचिद्रूपमें लीन हैं उन्हें एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—शुद्धचिद्रूपमें लीनता होनेसे एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है इसलिये योगियोंको चाहिये कि समस्त प्रकारके विकल्पोंको छोड़कर शुद्धचिद्रूपमें ही अनुराग करैं ॥ ५ ॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनं।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥ ६ ॥
ध्यानश्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥ ७ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं—इन्हींके

द्वारा योगकी सिद्धि होती है इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलापी हैं-समस्त कर्मोंसे अपनी आत्माको मुक्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि शास्त्रसे इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥ ६ ॥ ७ ॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमितिस्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥ ८ ॥

अर्थ—यह आत्मा 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण करते ही जब भावमुक्त होजाता है तब वह क्रमसे द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा। भावार्थ-शुद्धचिद्रूपके अंदर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्रसे ही भावसंसारसे छुटाकर भाव मोक्ष प्राप्त करता है तब वह परद्रव्य संसारका संबंध तो इस आत्मासे अवश्य ही दूर करदेगा। शुद्ध-चिद्रूपके स्मरण करनेसे कभी भी द्रव्य और भाव संसारका संबंध नहिं रह सकता ॥ ८ ॥

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि शुद्धचिद्रूपका चिंतवन किया जायगा तो प्रतिक्षण कर्मोंसे मुक्ति होती चली जायगी और यदि परपदार्थोंका चिंतवन होगा तो प्रतिसमय कर्मबंध होता रहैगा इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ९ ॥

सयोगक्षीणमिश्रेषु गुणस्थानेषु नो मृतिः ।

अन्यत्र मरणं प्रोक्तं शेषत्रिक्षपकैर्विना ॥ १० ॥

अर्थ—सयोगकेवली, क्षीणमोह मिश्र और क्षपकगुणस्थान आठवें नवमें और दशवेमें मरण नहिं होता परंतु इनसे भिन्न गुणस्थानोंमें मरण होता है ॥ १० ॥

मिथ्यात्वेऽविरते मृत्या जीवा यांति चतुर्गतीः ।
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादिगतित्रयं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें मरते हैं वे मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक चारों गतियोंमें और सासादन गुणस्थानमें मरनेवाले नरकगतिमें न जाकर शेष तिर्यंच आदि तीनों गतियोंमें जाते हैं ॥११॥

अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यांति शिवालयं ।
मृत्वा देवगतिं यांति शेषेषु सप्तसु ध्रुवं ॥ १२ ॥

अर्थ—अयोगकेवली चौदहवे-गुणस्थानसे मरनेवाले जीव मोक्ष जाते हैं और शेष सात गुणस्थानोंसे मरनेवाले देव होते हैं ॥ १२ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कृत्वा यांत्यधुना दिवं ।
तत्रेंद्रियसुखं भुक्त्वा श्रुत्वा वाणीं जिनागतां ॥ १३ ॥

जिनालयेषु सर्वेषु गत्वा कृत्वार्चनादिकं ।
ततो लब्ध्वा नरत्वं च रत्नत्रयविभूषणं ॥ १४ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानबलात्कृत्वा विधिक्षयं ।
सिद्धस्थानं परिप्राप्य त्रैलोक्यशिखरे क्षणात् ॥ १५ ॥

साक्षाच्च शुद्धचिद्रूपा भूत्वात्यंतनिराकुलाः ।
तिष्ठंत्यनंतकालं ते गुणाष्टकसमन्विताः ॥ १६ ॥

अर्थ—इससमय भी जो जीव शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेवाले हैं वे मरकर स्वर्ग जाते हैं और वहां भलेप्रकार इंद्रियजन्य सुखोंको भोगकर, भगवान जिनेंद्रके मुखसे जिनवाणी श्रवणकर, समस्त जिनमंदिरोंमें जा और उनकी पूजन आदि कर, मनुष्य भव और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको प्राप्तकर, शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे समस्त कर्मोंका क्षयकर और सिद्धस्थानको प्राप्त होकर तीनलोकके शिखरपर जा विराजते हैं तथा वहांपर साक्षात् शुद्धचिद्रूप होकर अत्यंत निराकुल और केवलदर्शन केवलज्ञान अव्याबाधसुख आदि आठो गुणोंसे भूषित हो अनंतकालपर्यंत निवास करते हैं ॥ १३ ॥ १६ ॥

क्रमतः क्रमतो याति कीटिका शुकवत्फलं ।

नगस्थं स्वास्थितं ना च शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कीड़ी क्रमर से धीरे धीरे वृक्षके ऊपर चढ़कर शुकके समान फलका आस्वादन करती है उसीप्रकार यह मनुष्य भी क्रम क्रमसे शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करता है। भावार्थ—जिसप्रकार कीड़ी एकदम तोतेके समान फलके पास जाकर उसका आस्वादन नहिं कर सकती किंतु पृथ्वीसे वृक्षके मूलभागपर चढ़कर धीरे धीरे फलके पास पहुंचती है और पीछे उसके रसका स्वाद लेती है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपका चिंतवन भी कोई मनुष्य एक साथ नहिं कर सकता किंतु क्रम क्रमसे परद्रव्योंसे अपनी ममता दूर करता हुआ उसका चिंतवन करसकता है ॥ १७ ॥

गुर्वादीनां च वाक्यानि श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
कृत्वाभ्यासं यदा याति तद्धि ध्यानं क्रमागतं ॥ १८ ॥
जिनेशागमनिर्यासमात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः ।
विनाभ्यासं यदा याति तद्ध्यानं चाक्रमागतं ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष गुरु आदिके वचनोंको भलेप्रकार श्रवणकर और शास्त्रोंका भलेप्रकार अभ्यासकर शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करता है उसके क्रमसे शुद्धचिद्रूपका चिंतवन-ध्यान कहा जाता है। किंतु जो पुरुष भगवान जिनेंद्रके शास्त्रोंके तात्पर्यमात्रको बतलानेवाले गुरुके वचनोंको श्रवणकर अभ्यास नहिं करता-वारवार शास्त्रोंका मनन चिंतवन नहिं करता उसके जो शुद्धचिद्रूपका ध्यान होता है वह क्रमसे नहिं होता ॥ १८ ॥ १९ ॥

न लाभमानकीर्त्यर्थं कृता कृतिरियं मया ।
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे प्रीतिः सैवात्र कारणं ॥ २० ॥

अर्थ—अंतमें ग्रंथकार ग्रंथके निर्माणका कारण बतलाते हैं-कि यह जो मैंने ग्रंथ बनाया है वह किसीप्रकारके लाभ मान वा कीर्तिकी इच्छासे नहिं बनाया परंच शुद्धचिद्रूपमें मेरा गाढ़ा प्रेम है इसीकारण इसका निर्माण किया है।

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेग्रणी-
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥ २१ ॥

अर्थ-मूलसंघके आचार्योंमें अग्रणी-सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकल कीर्ति हुये उनके पट्टरूपी उदयाचलपर सूर्यके समान भव्यरूपी कमलोंको आनंद प्रदान करनेवाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुये उन्हींके चरणकमलोंका भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूं जिसने कि इस तत्त्वज्ञानतरंगणी ग्रंथका निर्माण किया है ॥ २१ ॥

क्रीडंति ये प्रविश्येमां तत्त्वज्ञानतरंगिणीं ।
ते स्वर्गादिसुखं प्राप्य सिद्ध्यंति तदनंतरं ॥ २२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञानतरंगिणी-तत्त्वज्ञानरूपी नदीमें प्रवेशकर क्रीडा-अवगाहन करेंगे वे स्वर्ग आदिके सुखोंको भोगकर मोक्षसुखको प्राप्त होंगे-स्वर्ग सुखके भोगनेके बाद उन्हें अवश्य मोक्षसुखकी प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥

यदैव विक्रमातीताः शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिससमय विक्रम संवत्के पंद्रहसौ साठ वर्ष (शक संवतके चौदहसौ पच्चीस अथवा खीष्ट संवतके पंद्रहसो तीन वर्ष) बीत चुके थे उससमय इस तत्त्वज्ञानतरंगिणीरूपी कृतिका निर्माण किया गया ॥ २३ ॥

ग्रंथसंख्यात्र विज्ञेया लेखकैः पाठकैः किल ।
षट्त्रिंशदधिका पंचशती श्रोतृजनैरपि ॥ २४ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तिक्रमप्रतिपादकोऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अर्थ—इस ग्रंथकी सब श्लोक संख्या पांचसौ छत्तीस है ऐसा लेखक पाठक और श्रोताओंको समझलेना चाहिये अर्थात् यह ग्रंथ पांचसौ छत्तीस श्लोकोंमें समाप्त हुआ है ॥ २४ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके क्रमका प्रतिपादन करनेवाला अठारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीतत्त्वज्ञानतरंगिणी संपूर्णा ।

जल्दी प्रविष्ट नहिं होता परंतु एकाग्र हो जब यह बार बार ध्यान करता है तब उसका कुछ कुछ स्मरण हो आता है इसलिये इससे ऐसा जान पड़ता है, कि यह आत्मा कर्मोंसे आवृत है। तथा पहिले ही पहिल यदि किसी पदार्थका स्मरण भी होजाय तो उसके जरा ही विस्मरण होजानेपर फिर बार बार स्मरण करनेपर भी उसका स्मरण नहिं आता इसलिये आत्मापर कर्मोंकी माया जान पड़ती है अर्थात् आत्मा कर्मके उदयसे अवनत है यह स्पष्ट जान पड़ता है। भावार्थ—यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालकी पर्यायोंको हाथकी रेखाके समान देखना जानना इस आत्माका स्वभाव है तथापि यह देखनेमें आता है कि यह बहुत थोड़े पदार्थोंको जानता देखता है एवं पहिले देखे सुने किसी एक पदार्थका स्मरण कर सकता है और किसी एकका नही इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि कोई न कोई विरोधी पदार्थ अवश्य इसकी शक्तिका रोकनेवाला है और वह शुभ अशुभ कर्म ही है ॥ १४ ॥ १५ ॥

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥ १६ ॥

अर्थ—संसारके समस्तकार्योंमें शुद्धचिद्रूपका चिंतन मनन ध्यान करना ही सुखसाध्य-सुखसे सिद्ध होनेवाला है क्योंकि यह निजाधीन है इसकी सिद्धिमें अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा नहिं करनी पड़ती और इससे इसलोक और परलोक दोनों लोकोंमें निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत् ।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा ॥ १७ ॥

अर्थ—मोहके उदयसे मत्त जीवका मन जिसप्रकार संपत्ति और स्त्रियोंमें रमण करता है उसीप्रकार यदि वही मन उनसे उपेक्षाकर शुद्धचिद्रूपकी ओर झुकै-उससे प्रेमकरै, तो देखते देखते ही इसजीवको मोक्षकी प्राप्ति होजाय। भावार्थ—मन चाहता तो यह है, कि मुझे सुख मिलै परंतु सुखका उपाय कुछ नहिं करता। उल्टा महाबलवान मोहनीय कर्मके फंदमें फंसकर कभी धन उपार्जन करता है और कभी स्त्रियोंके साथ रमण करता फिरता है। यदि यह शुद्धचिद्रूपकी चिंता करै तो बहुत ही शीघ्र इसै मोक्षसुख मिल जाय॥ १७ ॥

विमुच्य शुद्धचिद्रूपचिंतनं ये प्रमादिनः ।
अन्यत् कार्यं च कुर्वंति ते पिबंति सुधां विषं ॥ १८ ॥

अर्थ—जो आलसी मनुष्य सुख दुःख और उनके कारणोंको भलेप्रकार जानकर भी प्रमादके उदयसे शुद्धचिद्रूपकी चिंता छोड़ अन्य कार्य करने लगजाते हैं वे अमृतको छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करतेहैं इसलिये तत्त्वज्ञोंको शुद्धचिद्रूपका सदा ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥ १९ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषय भोगनेमें जीवोंका चित्त सदा व्याकुल बना रहता है इसलिये उन्हें अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं और शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेमें किसीप्रकारकी आकुलता नहिं होती इसलिये उसकी प्राप्तिसे जीवोंका परम कल्याण होता है ॥ १९ ॥

रागद्वेषादिजं दुःखं शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।
याति तच्चिंतनं न स्याद् यतस्तद्गमनं विना ॥ २० ॥

अर्थ—राग द्वेष आदिके कारणसे जीवोंको अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपका स्मरण करते ही वे पलभरमें नष्ट होजाते हैं–ठहर नहिं सकते क्योंकि विना राग आदिके दूर हुये शुद्धचिद्रूपका ध्यानही नहिं हो सकता ॥ २० ॥

आनंदो जायतेत्यंतः शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
निराकुलत्वरूपो हि सतां यत्तन्मयोऽस्त्यसौ ॥ २१ ॥

अर्थ—निराकुलतारूप (किसीप्रकारकी आकुलता न होना) आनंद है और इस आनंदकी प्राप्ति सज्जनोंको शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे ही होसकती है क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप आनंदमय है-आनंद पदार्थ इससे जुदा नहीं है ॥२१॥

तं स्मरन् लभते ना तमन्यदन्यच्च केवलं ।
याति यस्य पथा पांथस्तदेव लभते पुरं ॥ २२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पथिक मनुष्य जिस गांवके मार्गको पकड़कर चलता है वह उसी गांवमें पहुच जाता है अन्यगांवके मार्गसे चलनेवाला अन्यगांवमें नहीं उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है वह शुद्धचिद्रूपको प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थोंकी आराधना करता है वह उनकी प्राप्ति करता है परंतु यह कदापि नहिं होसकता कि अन्य पदार्थोंका ध्यान करै और शुद्धचिद्रूपको पा जाय ॥ २२ ॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोऽगिनां ।
तज्जयेऽत्यंतसुगमा क्रियाकांडविमोचनात् ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तिसुगमत्वप्रतिपादको नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह मोहनीय कर्म महाबलवान है जो जीव इसके जालमें जिकड़े हैं उन्हें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति दुस्साध्य

है और जिन्होंने इसे जीतलिया है उन्हें तप आदि क्रियाओंके विना ही, सुलभतासे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होजाती है २३

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिको सुगम बतलानेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पांचवां अध्याय।

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातूपलानां
स्त्रीभाश्वानां नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानां।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान् विशदमतितया ज्ञातवान् प्रायशोऽहं
शुद्धं चिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित् ॥ १ ॥

अर्थ— मैंने पहिले कई वार रत्न, औषधि, वस्त्र, घीं आदि रस, रोग. अन्न, सोना चांदी आदि धातु, पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोड़े, मनुष्य मगर मच्छ आदि जलके जीव, पक्षी, और गाय भैंस आदि पदार्थोंके नाम

उत्पत्ति मूल्य और प्रयोजन भलेप्रकार अपनी विशद बुद्धिसे जान सुन लिये हैं परंतु जो शुद्धचिद्रूप नित्य है आत्मिक है उसै आजतक कभी पहिले नहिं जाना है। भावार्थ—मैं अनादिकालसे इस संसारमें घूम रहा हूं मुझसें संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहि वचा जिसका मैंने नाम न जाना हो, उसकी उत्पत्तिके कारण मूल्य और प्रयोजन न पहिचाने हों परंतु एक शुद्धचिद्रूप नामका पदार्थ ऐसा वचगया है जिसका न मैंने कभी नाम सुना न इसकी प्राप्तिके उपाय सोचे और न इसका प्रयोजन ही पहिचाना इसलिये यह मेरे लिये अपूर्व पदार्थ है ॥ १ ॥

पूर्वं मया कृतान्येव चिंतनान्यप्यनेकशः ।
न कदाचिन्महामोहात् शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ २ ॥

अर्थ—पहिले मैंने अनेक वार अनेक पदार्थोंका मनन ध्यान किया है परंतु पुत्र स्त्री आदिके मोहसे मूढ हो शुद्धचिद्रूपका कभी आज तक चिंतवन न किया ॥ २ ॥

अनंतानि कृतान्येव मरणानि मयापि न ।
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतं ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं अनंतवार अनंते भवोंमें मरा परंतु मृत्युके समय 'मैं शुद्ध चिद्रूप हूं' ऐसा स्मरणकर कभी न मरा ॥३॥

सुरद्रुमा निधानानि चिंतारत्नं द्युसद्गवी ।
लब्धा च न परं पूर्वं शुद्धचिद्रूपसंपदा ॥ ४ ॥

अर्थ—मैंने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणिरत्न, और कामधेनु प्रभृति लोकोत्तर अनन्यलभ्य विभूतियां प्राप्त करलीं परंतु अनुपम शुद्धचिद्रूप नामकी संपत्ति आजतक कहीं न पाई ॥ ४ ॥

द्रव्यादिपंचधा पूर्वं परावर्त्ता अनंतशः ।
कृतास्तेष्वेकशो न स्वं स्वरूपं लब्धवानहं ॥ ५ ॥

अर्थ—मैंने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण किया इसमें द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव नामक पांचो परिवर्तन भी अनेकवार पूरे किये परंतु स्वस्वरूप-शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति मुझे आज तक एकवार भी न हुई ॥ ५ ॥

इंद्रादीनां पदं लब्धं पूर्वं विद्याधरेशिनां ।
अनंतशोऽहमिंद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मैंने पहिले अनेक वार इंद्र नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये अनंतीवार विद्याधरोंका स्वामी और अहमिंद्रभी हुआ परंतु आत्मिकरूप-शुद्धचिद्रूपका लाभ न करसका ॥ ६ ॥

मध्ये चतुर्गतीनां च वहुशो रिपवो जिताः ।
पूर्वं न मोहप्रत्यर्थी स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ ७ ॥

अर्थ—नरक मनुष्य तिर्यंच और देव चारों गतियोंमें भ्रमणकर मैंने अनेकवार अनेक शत्रुओंको जीता परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये उसके विरोधी महाबलवान मोहरूपी वैरीको कभी नहिं जीता ॥ ७ ॥

मया निःशेषशास्त्राणि व्याकृतानि श्रुतानि च ।
तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृतं तीव्रमोहिना ॥ ८ ॥

अर्थ—मैंने संसारमें अनंतवार कठिनसे कठिन भी अनेक शास्त्रोंका व्याख्यान करडाला, वहुतसे शास्त्रोंका श्रवण भी किया परंतु मोहसे मूढ़ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूपका वर्णन है उसे कभी स्वीकार न किया ॥ ८ ॥

वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थितः ।
न लब्धं शुद्धचिद्रूपं तत्रापि भ्रमतो निजं ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसारमें भ्रमणकर मैंने कई वार वृद्धोंकी सेवाकी, विद्वानोंकी बड़ी बड़ी सभाओंमें भी बैठा परंतु अपने आत्मिक स्वरूप-शुद्धचिद्रूपका कभी मैंने लाभ न किया ॥ ९ ॥

मानुष्यं वहुशो लब्धमार्ये खंडे च सत्कुलं ।
आदिसंहननं शुद्धचिद्रूपं न कदाचन ॥ १० ॥

अर्थ—मैं आर्यखंडमें बहुतवार मनुष्य हुआ, कईवार उत्तम कुलमें भी जन्म पाया परंतु वज्रवृषभनाराचसंहनन और शुद्धचिद्रूपकी मुझे कभी भी प्राप्ति न हुई ॥ १० ॥

शौचसंयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतरा धृतवानहं ॥ ११ ॥

अर्थ—मैंने अनंतवार शौच संयम शीलोंको भी धारण किया, भांति भांतिके घोरतम तप भी तपे परंतु शुद्धचिद्रूपका कभी स्मरण न किया ॥ ११ ॥

एकेंद्रियादिजीवेषु पर्याया: सकला धृता: ।
अजानता स्वचिद्रूपं परस्पर्शादिजानता ॥ १२ ॥

अर्थ—मैं अनेकवार एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय हुआ, एकेंद्रियआदिमें वृक्ष आदि अनंती पर्यायोंको धारण किया, दूसरेके स्पर्श रस गंध आदिको भी जाना परंतु स्वस्वरूप चिद्रूपको आजतक न पाया न पहिचाना ॥ १२ ॥

ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं सचेतनमचेतनं ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं न कदाचिच्च केवलं ॥ १३ ॥

अर्थ—मैंने संसारमें चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंको भलेप्रकार देखा जाना परंतु केवल शुद्धचिद्रूपनामका एक पदार्थ ऐसा वाकी वचगया जिसे कभी मैंने न जाना न देखा ॥ १३ ॥

लोकज्ञातिश्रुतसुरनृपतिश्रेयसां भामिनीनां
यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां ज्ञातवान् प्रायशोऽहं ।
क्षेत्रादीनामशकलजगतो वा स्वभावं च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा संसृतौ तीव्रमोहात् ॥ १४ ॥

अर्थ—संसारमें लोक, ज्ञाति, शास्त्र, देव और राजाओंकी विभूतियोंको, स्त्रियों और मुनि आदिके समस्त व्यवहारको कईबार मैंने जाना, क्षेत्र नदी पर्वत आदि खंड खंड और समस्त जगतके स्वभावको भी पहिचाना परंतु मोहकी तीव्रतासे "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" इसवातको मैने निश्चयरूपसे कभी न जान पाया। भावार्थ-देखनेमें आता है संसारमें प्रायः मनुष्य, लोककी विभूति और जाति आदिके गौरवको उत्तम समझते हैं और उसीको हितकारी मान उसकी

प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करते हैं परंतु मैंने इन सबको भले प्रकार जान देख और प्राप्त करलिया किंतु अभीतक मुझे केवल शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कभी नहिं हुई ॥ १४ ॥

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधः ।
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि ॥ १५ ॥

अर्थ—बहुतवार मैं शीतकालमें नदीके किनारे, वर्षाकालमें वृक्षके नीचे और ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतकी चोटियों-पर स्थित हुआ परंतु अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें मैंने कभी स्थिति न की ॥ १५ ॥

विहितो विविधोपायैः कायक्लेशो महत्तमः ।
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं स्वस्वरूपमजानता ॥ १६ ॥

अर्थ—"मुझे स्वर्ग आदि सुखकी प्राप्ति हो" इस अभिलापासे मैंने अनेक प्रयत्नोंसे घोरतम भी कायक्लेश तप तपे परंतु शुद्धचिद्रूपकी ओर जरा भी ध्यान न दिया-स्वर्ग चक्रवर्ती आदिके सुखके सामने मैंने शुद्धचिद्रूप-सुखको तुच्छ समझा ॥ १६ ॥

अधीतानि च शास्त्राणि बहुवारमनेकशः ।

मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकं ॥ १७ ॥

अर्थ—मैंने बहुतबार अनेक शास्त्रोंको पढ़ा परंतु मोहसे मत्त हो शुद्धचिद्रूपका स्वरूप समझानेवाला एक भी शास्त्र न पढ़ पाया ॥ १७ ॥

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः ।
लब्धो मन्ये कदाचित्तं विनाऽसौ लभ्यते कथं ॥ १८ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाला आजतक मुझे कोई गुरु भी न मिला और जब गुरुही कभी न मिला तब शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो ही कहां सकती थी ! अर्थात् विना शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके मर्मज्ञ गुरुके शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति सर्वथा दुःस्साध्य है ॥ १८ ॥

सचेतने शुभे द्रव्ये कृता प्रीतिरचेतने ।
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया ॥ १९ ॥

अर्थ—अतिशय मोही होकर मैंने सजीव शुभद्रव्योंमें प्रीतिकी, अचेतन द्रव्योंको भी प्रीतिका करनेवाला माना परंतु आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें कभी प्रेम न किया। भावार्थ—मुनि आदि शुभ चेतनद्रव्योंमें और भगवानकी

प्रतिमा आदि शुभ अचेतन द्रव्योंमें मैंने गाढ़ प्रेम किया परंतु ये परद्रव्य होनेसे मेरी अभीष्ट सिद्धि न करसके क्योंकि मेरे अभीष्टकी सिद्धि आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करनेसे ही होसकती थी सो उसमें मैंने कभी प्रेम न किया ॥१९॥

दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च ।
बहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिंतनं ॥ २० ॥

अर्थ—इस संसारमें मैंने कठिनसे कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये परंतु आजतक शुद्धचिद्रूपकी कभी चिंता न की ॥ २० ॥

पूर्वं या विहिता क्रिया किल महामोहोदयेनाखिला
मूढत्वेन मयेह तत्र महतीं प्रीतिं समातन्वता ।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मंदमोहस्य मे
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतो धिग् विमोहोदयं ॥ २१ ॥

अर्थ—सांसारिक वातोंमें अतिशय प्रीतिको करानेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे मूढ़ बन जो मैंने पहिले समस्त कार्य किये हैं वे इससमय मुझे विषसरीखे दुःखदायी जान पड़ रहे हैं, क्योंकि इस समय मै शुद्धचिद्रूपमें

लीन होगया हूं। मेरा मोह मंद होगया है। और सब बातोंसे मेरी इच्छा हट गई है, इसलिये इस मोहनीय कर्मके उदयकेलिये सर्वथा धिक्कार है। भावार्थ—जबतक मैं मूढ़ था हित और अहितको जरा भी नहिं पहिचानता था तबतक मोहके उदयसे मैं जिस कामको करता था उसै बहुत अच्छा मानता था परंतु जब मैं शुद्धचिद्रूपमें लीन हुआ मेरा मोह मंद हुआ, और समस्त ऐहिक पदार्थोंसे मेरी इच्छा हटी तो मोहके उदयसे किये वे समस्त कार्य मुझै विष सरीखे मालूम होने लगे-जरा भी उनमें मेरा प्रेम न होने लगा इसलिये इस मोहनीय कर्मके लिये सर्वथा धिक्कार है॥ २१ ॥

व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां वृंदैरापूरितो भृशं।
लब्धस्तेनावकाशो न शुद्धचिद्रूपचिंतने ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्य पूर्वालब्धिप्रतिपादकः पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारके विकल्पोंसे मैं सदा भरा रहा, कभी मै अपने संकल्प विकल्पोंको दूसरेके सामने प्रगट करता रहा और कभी मेरे मनमें ही वे टकराकर नष्ट होते रहे इसलिये आजतक मुझै शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेका कभी भी अवकाश न मिला ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी पूर्वमें प्राप्ति न होनेका वर्णन करनेवाला पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा अध्याय।

जानंति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा
मग्नं भूरिपरीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितं।
मृत्यासन्नतया गतं विकृततां चेद् भ्रांतिमंतं परे
चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचनं जानंतु मामंगिनः॥ १॥

अर्थ—चिद्रूपकी चिंतामें लीन मुझे अनेक मनुष्य- बावला, खोटे ग्रहोंसे अस्त व्यस्त, पिशाचोंसे ग्रस्त, रोगोंसे पीडित भांति २ की परीषहोंसे विकल, बुड्ढा, बहुत जल्दी मरनेवाला होनेके कारण विकृत, और ज्ञान शून्य हो घूमनेवाला जानते हैं सो जानो परंतु मैं ऐसा नहीं हूं क्योंकि मुझे इसबातका पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं। भावार्थ—मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं ऐसा पूर्ण निश्चय होजानेसे जब मैं उसकी प्राप्तिके लिये उपाय करता हूं और ऐहिक कृत्योंसे संबंध छोड़देता हूं उससमय बहुतसे मनुष्य मुझे उदासीन जान पागल कहते हैं। कोई कहता है इसपर खोटे ग्रहोंने कोप किया है। बहुतसे कहते हैं यह किसी पिशाचके झपटमें आगया है। अनेक कहते हैं इसै कुछ रोग होगया है। बहुतसे कहते हैं परीषह सहते सहते यह व्यकुल होगया है। एक कहता है अजी यह बुड्ढा

होगया है इसलिये इसकी बुद्धि भ्रष्ट होगई है दूसरा कहता है अजी इसकी मृत्यु बिलकुल समीप है इसलिये इसै कुछ विकार होगया है और अनेक कहते हैं यह व्यर्थ मुंह उठाये घूमता फिरता है परंतु मेरा ऐसा कहनेसे कोई नुक्सान नहीं क्योंकि ये मनुष्य अज्ञानी हैं-हित अहितको जराभी न पहिचाननेवाले हैं । मुझे तो इस बातका पूर्णनिश्चय है, कि मैं शुद्धचैतन्यस्वरूप हूं ॥ १ ॥

उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं
निश्चिंतं प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत् ।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद् भाति भेदज्ञचित्ते ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय स्व और परका भेद विज्ञान होजाता है उससमय शुद्धात्मदृष्टिसे रहित यह जगत चित्तमें ऐसा जान पड़ने लगता है मानो यह उन्मत्त और भ्रांत है। इसके दोनों नेत्र बंद होगये हैं यह दिग्विमूढ़ होगया है। गाढ़ निद्रामें सोरहा है। मन रहित असैनी मूर्च्छासे बेहोश, और जलके प्रवाहमें बहा चला जा रहा है। बालकके समान अज्ञानी है। अपना सेवक बना लिया है । बावला और मोहरूपी धूर्तोंने व्याकुल बना दिया है ।

भावार्थ—यदि शुद्धात्मदृष्टिसे देखा जाय तो वास्तवमें यह जगत उन्मत्त भ्रांत मूर्च्छित सुप्त और आकुलित आदि है और स्व परके ज्ञान होनेसे यह ऐसा ही भासने लगता है सो ठीक भी है क्योंकि भेदविज्ञानीका लक्ष्य शुद्धचिद्रूपकी ओर रहता है और संसार अपने अपने अभीष्ट लक्ष्यको लेकर काम करता है आपसमें दोनोंका विरोध है इसलिये भेदविज्ञानीको संसारकी स्थिति अवश्य ही विपरीत जान पड़नी चाहिये ॥ २ ॥

स्त्रीणां भर्त्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चातकानां घनार्णः ।
कासाराद्यब्धराणाममृतमिव नृणां वा निजौकः सुराणां
वैद्यो रोगातुराणां प्रिय इव हृदि मे शुद्धचिद्रूपनामा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार स्त्रियोंको अपना स्वामी, बलभद्रोंको नारायण, राजाओंको पृथ्वी, गौओंको बछड़े, चकवियोंको सूर्य, चातकोंको मेघका जल, जलचर आदि जीवोंको तालाब आदि, मनुष्योंको अमृत, देवोंको स्वर्ग, और रोगियोंको वैद्य अधिक प्यारा लगता है उसीप्रकार मुझे शुद्धचिद्रूपका नाम परमप्रिय मालूम होता है इसलिये मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्धचिद्रूप सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहै ॥ ३ ॥

शापं वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं वधं ताडनं
छेदं भेदगदादिहास्यदहनं निंदाऽऽपदापीडनं।
पव्यग्न्यब्ध्यगपंककूपवनभूक्षेपापमानं भयं
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरमब्रह्मस्मृतावन्वहं ॥ ४ ॥

अर्थ—जिससमय मैं शुद्धचिद्रूपके चिंतवनमें लीन हों उससमय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरंतर शाप देवें दो, मेरी चीज चुरायें, चुराओ, मेरे शरीरके टुकड़े टुकड़े करैं, मारैं, ताड़ैं, छेदैं, मेरे रोग उत्पन्न कर, हंसी करैं जलावें, निंदाकरैं आपत्ति और पीडा करै, करो, शिरपर वज्र डालें, डालो, अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कूआ, वन और पृथ्वीपर फैके, फैंको अपमान और भय करैं करो मेरा कुछ विगाड़ नहिं हो सकता अर्थात् वे मेरी आत्माको किसीप्रकार भी हानि नहिं पहुंचा सकते ॥ ४ ॥

चंद्रार्कभ्रमवत्सदा सुरनदीधारौघसंपातव—
ल्लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद्द्रव्यस्य पर्यायवत्।

लोकाधस्तलवातसंगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्
चिद्रूपस्मरणं निरतरमहो भूयाच्छिवाप्त्यै मम ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार संसारमें सूर्य चंद्रमा निरंतर घूमते रहते हैं, गंगा नदीकी धार निरंतर वहती रहती है, घंटा घड़ी पल आदि व्यवहार कालका भी सदा हेर फेर होता रहता है, द्रव्योंकी पर्यायें सदा पलटती रहती हैं, लोकके अधोभागमें घनवात तनुवात अंबुवात ये तीनों वातें सदा घूमती रहती हैं, और तालाब आदिमें पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार मेरे मनमें भी सदा शुद्धचिद्रूपका स्मरण बना रहै जिससे मेरा कल्याण हो॥५॥

इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु ।
द्रव्यतो भावतस्तावद् यावदंगे स्थितिर्मम ॥ ६ ॥

अर्थ—जबतक मैं (आत्मा) द्रव्य या भाव किसी रीतिसे इस शरीरमें मौजूद हूं तब तक मेरे हृदयकमलमें शुद्धचिद्रूपोऽहं (मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं) यह बात सदा स्थित रहै । रक्त मज्जा आदि धातुओंका पिंडस्वरूप द्रव्यशरीर है और वह मेरा है ऐसा संकल्प भावशरीर है ॥ ६ ॥

दृश्यंतेऽतीव निःसाराः क्रिया वागंगचेतसां ।

कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता ॥ ७ ॥

अर्थ—मैं कृतकृत्य हो चुका हूं-संसारमें मुझै करनेकेलिये कुछ भी काम वाकी नहीं रहा है क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूपके चिंतवनमें दत्तचित्त हूं इसलिये मन वचन और शरीरकी अन्य समस्त क्रियायें मुझै अत्यंत निस्सार मालूम पड़ती हैं उनमें कोई सार दृष्टिगोचर नहिं होता ॥ ७ ॥

किंचित्कदोत्तमं क्वापि न यतो नियमान्नमः ।

तस्मादनंतशः शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणं ॥ ८ ॥

अर्थ—किसी काल और देशमें शुद्धचिद्रूपसे बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है ऐसा मुझै पूर्ण निश्चय है इसलिये मैं इस शुद्धचिद्रूपके लिये प्रतिसमय अनंत वार नमस्कार करता हूं ॥ ८ ॥

वाह्यांतःसगमंगं नृसुरपतिपदं कर्मबंधादिभावं

विद्याविज्ञानशोभावलभवखसुखं कीर्तिरूपप्रतापं ।

राज्यागाख्यागकालास्रवकुपरिजनं वाग्मनोयानधीद्धा-

तीर्थेशत्वं ह्यनित्यं स्मर परमचलं शुद्धचिद्रूपमेकं ॥ ९ ॥

अर्थ—बाह्य अभ्यंतर परिग्रह, शरीर, सुरेंद्र और नरेंद्रका पद, कर्मबंध आदि भाव, विद्या, विज्ञान-कला कौशल, शोभा, बल, जन्म, इंद्रियोंका सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, वृक्ष, नाम, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन, वाहन, बुद्धि, दीप्ति, तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं परंतु केवल शुद्ध-चिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है इसलिये सब पदार्थोंका ध्यान छोड़कर इसीका ध्यान करो। भावार्थ—जो पदार्थ सदा अपने साथ रहै उसीका ध्यान करना आवश्यक और उचित है, विनाशीक पदार्थोंके ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन ? क्योंकि वह तो अपनी अवधिके अंतमें नियमसे नष्ट होजायंगे इसलिये उनका ध्यान करना व्यर्थ है और शुद्धचिद्रूप नित्य अविनाशी है इसलिये उसीका ध्यान करना कार्यकारी है ॥ ९ ॥

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥ १० ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भलेप्रकार जानकर भले बुरे किसी भी पदार्थमें राग द्वेष आदि न करो सबमें समताभाव रक्खो और निराकुल हो अपनी आत्मामें स्थिति करो ॥ १० ॥

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं शुद्धचिद्रूप हूं इसलिये मैं उसको देखता हूं और उसीसे मुझै सुख मिलता है जैन शास्त्रका भी यही निचोड़ है-उसमें भी यही बात बतलाई है कि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे संसारका नाश और हितकारी मोक्ष प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥ १२ ॥

अर्थ—आत्मा स्वस्थ-स्वरूप उसीसमय कहा जाता है जब कि वह सदा आनंदमय केवल अपने शुद्धचिद्रूपमें स्थिति करता है अन्य पदार्थोंमें स्थित रहनेपर उसै स्वमें स्थित स्वस्थ कहना भ्रम है । भावार्थ—स्वस्थका अर्थ स्वस्मिन् तिष्ठतीति) अपनेमें स्थित रहनेवाला होता है। संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके अन्य कोई भी पदार्थ आत्माका अपना स्व नहीं इसलिये सदा आनंदमय केवल शुद्धचिद्रूपमें स्थित रहना ही स्वस्थपना है किंतु स्वर्ग देवेंद्र आदि पदोंमें विद्यमान आत्माको स्वस्थ नहिं कह सकते ॥ १२ ॥

निश्चलः परिणामोऽस्तु स्वशुद्धचिति मामकः ।
शरीरमोचनं यावादिव भूमौ सुराचलः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें मेरु पर्वत निश्चलरूपसे गढ़ा हुआ है जरा भी उसे कोई हिला चला नहिं सकता उसीप्रकार मेरी भी यही कामना है, कि जबतक इस शरीरका संबंध नहिं छूटता तबतक इसी आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें मेरा भी परिणाम निश्चल रूपसे स्थित रहै जरा भी इधर उधर न भटके ॥ १३ ॥

सदा परिणतिर्मेऽस्तु शुद्धचिद्रूपकेऽचला ।
अष्टमीभूमिकामध्ये शुभा सिद्धशिला यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार आठवीं पृथ्वी मोक्षमें अत्यंत शुभ सिद्धशिला निश्चल रूपसे विराजमान है उसीप्रकार मेरे मनकी परिणति भी इस शुद्धचिद्रूपमें निश्चल रूपसे स्थित रहो ॥ १४ ॥

चलंति सन्मुनींद्राणां निर्मलानि मनांसि न ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात् सिद्धक्षेत्राच्छिवा यथा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कल्याणकारी सिद्ध क्षेत्रसे सिद्ध भगवान् किसी रीतिसे चलायमान नहिं होसकते उसीप्रकार उत्तम मुनियोंके निर्मल मन भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे कभी चल विचल नहिं हो सकते ॥ १५ ॥

मुनीश्वरैस्तथाभ्यासो दृढः सम्यग्विधीयते ।

मानसं शुद्धचिद्रूपे यथाऽत्यंतं स्थिरीभवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—मुनिगण इसरूपसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानका दृढ़ अभ्यास करते हैं कि उनका मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें सदा निश्चलरूपसे स्थित बना रहै, जरा भी इधर उधर चल विचल न हो सके ॥ १६ ॥

सुखे दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।
चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिंतनं ॥ १७ ॥

अर्थ—सुख दुःख उग्र रोग और भूंख प्यास आदिके भयंकर उपद्रवोंमें तथा मनुष्यकृत देवकृत तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चारो प्रकारके उपसर्गोंमें मैं शुद्धचिद्रूपका ही चिंतवन करता रहूं-मुझे उनके उपद्रवसे उत्पन्न वेदनाका जरा भी अनुभव न हो ॥ १७ ॥

निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे ।
चिद्रूपे तेन सोढानि महादुःखान्यहो मया ॥ १८ ॥

अर्थ—इससंसारमें मैं अनादिकालसे घूम रहा हूं। हाय! मैंने कभी भी शुद्धचिद्रूपमें अपना मन निश्चलरूपसे न लगाया इसलिये मुझे अनंते दुःख भोगने पड़े-अर्थात् यदि में संसारके कार्योंसे अपना मन हटाकर शुद्धचिद्रूपमें लगाता तो क्यों मुझे अपार वेदना सहनी पड़तीं ॥ १८ ॥

ये याता यांति यास्यंति निर्वृतिं पुरुषोत्तमाः ।
मानसं निश्चलं कृत्वा स्वे चिद्रूपे न संशयः ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुषोत्तम-महात्मा मोक्ष गये वा जारहे हैं और जावेंगे इसमें कोई संदेह नहीं उन्होंने अपना मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें निश्चलरूपसे लगाया लगाते हैं और लगावेंगे। भावार्थ-विना शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें चित्त लगाये मोक्ष कदापि नहिं मिलसकती इसलिये जिन्होंने शुद्ध चिद्रूपमें अपना मन लगाया वे मोक्ष गये मन लगा रहे हैं वे जारहे हैं और जो मन लगावेंगे वे अवश्य जावेंगे इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं ॥ १९ ॥

निश्चलोऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ ।
तदैव भावमुक्तिः स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्तिभाग् ॥ २० ॥

इति मुमुक्षुभट्टारक ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणनिश्चलताप्रतिपादको नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिससमय निश्चल मनसे यह स्मरण किया जाता है, कि 'मैं शुद्धचित्रूप हूं' भाव मोक्ष उसीसमय हो जाती है और द्रव्य मोक्ष क्रम क्रमसे होती चली जाती है। भावार्थ-स्व और पर पदार्थोंका भेदविज्ञान होनां भावमोक्ष है और शरीर आदिसे सर्वथा रहित हो सिद्ध शिलापर आत्माका जा विराजना द्रव्यमोक्ष है। जिससमय

संसारसे सर्वथा उदासीन हो मैं शुद्धचिद्रूप हूं ऐसा निश्चल स्मरण किया जाता है भावमोक्ष उसीसमय होजाती है और ज्यों २ कर्मोंका नाश, शरीर आदिसे रहितपना होता जाता है त्यों त्यों द्रव्य मोक्ष होती चली जाती है ॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणानिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेकी निश्चलताको बतलानेवाला छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवां अध्याय ।

न यामि शुद्धचिद्रूपे लयं यावदहं दृढं ।
न मुंचामि क्षणं तावद् व्यवहारावलंबनं ॥ १ ॥

अर्थ—जबतक मैं दृढ़रूपसे शुद्धचिद्रूपमें लीन न हो जाऊं तबतक मैं व्यवहार नयका सहारा नहिं छोड़ सकता-व्यवहार नयको अवश्य काममें लाऊंगा । भावार्थ—जबतक 'मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं' ऐसा मुझे भलेप्रकार ज्ञान नहि होता तबतक निश्चय व्यवहार दोनों ही नय कार्यकारी हैं, उसके ज्ञानके पहिले किसी एक नयसे कार्य चला-लें यह कदापि नहिं हो सकता परंतु जिससमय वास्तविक शुद्धचिद्रूपका ज्ञान हो जाय उससमय व्यवहारनय

मानने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि व्यवहारनयसे जप तप आदि करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और उसमें लीनता होती है-व्यवहारनय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें कारण है इसलिये शुद्धचिद्रूपमें विना लीनता हुये व्यवहारनय-का सर्वथा त्याग करदेना नितांत मिथ्यात्व है ॥ १ ॥

अशुद्धं किल चिद्रूपं लोके सर्वत्र दृश्यते ।
व्यवहारनयं श्रित्वा शुद्धं बोधदृशा क्वचित् ॥ २ ॥

अर्थ—व्यवहारनयके अवलंबनसे सर्वत्र संसारमें अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टि गोचर होता है निश्चयनयसे शुद्ध तो कहीं किसी आत्मामें दीखता है। भावार्थ—व्यवहारनयके अवलंबनसे चिद्रूप कभी शुद्ध हो ही नहिं सकता किंतु शुद्धनिश्चयके अवलंवन से ही वह शुद्ध हो सकता है इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे व्यवहारनयके साथ शुद्धनिश्चयनयकी ओर विशेषरूपसे अपनी दृष्टिको लगावें ॥ २ ॥

चिद्रूपे तारतम्येन गुणस्थानाच्चतुर्थतः ।
मिथ्यात्वाद्युदयाद्याख्यमलापायाद् विशुद्धता ॥ ३ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें चढ़नेवाले जीवोंके चौथे गुणस्थानसे मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व और अनंता-

नुबंधी क्रोध मान माया लोभरूप मलोंका ज्यों २ नाश होता जाता है वैसा ही वैस द्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है-विना मिथ्यात्व आदि मलोंके नाश किये चिद्रूप कभी विशुद्ध नहिं हो सकता ॥ ३ ॥

मोक्षस्वर्गार्थिनां पुंसां तात्त्विकव्यवहारिणां ।
पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जुदे २ नगरके जानेवाले पथिकोंके मार्ग जुदे २ होते हैं उसीप्रकार जो व्यवहारका कार्य समाप्तकर निश्चयकी ओर झुकनेवाले हैं और मोक्ष जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है और जो व्यवहारमार्ग के अनुयायी हैं और स्वर्ग जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है ॥ ४ ॥

चिंताक्लेशकषायशोकवहुले देहादिसाध्यातपरा—
धीने कर्मनिबंधनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते ।
व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वा वृजात्मन् सदा
शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते ॥ ५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह व्यवहार मार्ग चिंता क्लेश कषाय और शोकसे जटिल है । देह आदि द्वारा साध्य

होनेसे पराधीन है। कर्मोंके लानेमें कारण है। अत्यंत विकट भय एवं आशासे व्याप्त है और व्यामोह कराने वाला है परंतु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गमें यह कोई विपत्ति नहीं है इसलिये तू व्यवहारनयको त्यागकर शुद्धनिश्चयनय रूप मार्गका अवलंबन कर क्योंकि यह इस लोककी क्या बात ? परलोकमें भी सुखका देनेवाला है और समस्त दोषोंसे रहित निर्दोष है। भावार्थ—व्यवहारनयरूप मार्गमें गमन करनेसे नाना प्रकारकी चिंतायोंका भांति २ के क्लेश कषाय और शोकोंका सामना करना पड़ता है। उसमें देह इंद्रियां मन आदिकी आवश्यकता पड़ती है इस लिये वह पराधीन है। शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्म भी व्यवहारनयके अवलंबनसे ही आते हैं। अत्यंत विषम है। उसके अनुयायी पुरुषोंको नानाप्रकारके भय और आशाओंसे उत्पन्न दुःख भोगने पड़ते हैं और भ्रांत होना पड़ता है परंतु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गमें गमन करनेसे चिंता क्लेश आदि नहिं भोगने पड़ते, वह स्वधीन है—उसमें शरीर आदिकी आवश्यकता नहिं पड़ती। उसके अवलंबनसे किसी प्रकारके कर्मका भी आस्रव नहिं होता। वह विकट और भय आशाजन्य दुःख भी नहिं भुगाता एवं व्यामुग्ध भी नहिं करता तिसपर भी दोनों लोकमें सुख देनेवाला और निर्दोष है इसलिये ऐसे भयंकर व्यवहार मार्गको त्यागकर सर्वोत्तम निश्चय मार्गसे ही गमन करना चाहिये ॥ ५ ॥

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः ।

न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचिद्रूपमयः सदैव ॥ ६ ॥

अर्थ—मेरा मन शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये उत्सुक है इसलिये न तो संसारमें मुझे पदार्थोंकी आवश्यकता है और न शिष्यगण पुस्तक और देह आदिसे ही कुछ प्रयोजन है एवं न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्धचिद्रूपमें ही लीन रहे सिवाय शुद्धचिद्रूपके, अन्य किसी पदार्थमें रंच भी न जाय ॥ ६ ॥

न चेतसा स्पर्शमहं करोमि सचेतनाचेतनवस्तुजाते ।
विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यं ॥ ७ ॥

अर्थ—मेरी यह कामना है कि शुद्धचिद्रूप नामक पदार्थको छोड़कर मैं किसी भी चेतन वा अचेतन पदार्थका किसी देश और किसी कालमें कभी भी स्पर्श मनसे स्पर्श न करूं । भावार्थ—मैं जब किसी पदार्थका चिन्तन करूं तो शुद्धचिद्रूपका ही करूं शुद्धचिद्रूपसे अतिरिक्त किसी पदार्थका चाहे वह चेतन अचेतन कैसा भी हो कभी किसी कालमें भी न करूं ॥ ७ ॥

व्यवहारं समालम्ब्य येऽक्षि कुर्वन्ति निश्चयं ।

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषामेवेतरस्य न ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यवहारनयका अवलंबनकर जो महानुभाव अपनी दृष्टिको शुद्धनिश्चयनयकी ओर लगाते हैं उन्हें ही संसारमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है अन्य मनुष्योंको शुद्धचिद्रूपका लाभ कदापि नहिं हो सकता ॥ ८ ॥

संपर्कात् कर्मणोऽशुद्धं मलस्य वसनं यथा।
व्यवहारेण चिद्रूपं शुद्धं तन्निश्चयाश्रयात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार निर्मल भी वस्त्र मैलसे मलिन-अशुद्ध होजाता है उसीप्रकार व्यवहार नयसे कर्मके संबंधसे शुद्ध भी चिद्रूप अशुद्ध है परंतु शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे वह शुद्ध ही है ॥ ९ ॥

अशुद्धं कथ्यते स्वर्णमन्यद्रव्येण मिश्रितं।
व्यवहारं समाश्रित्य शुद्धं निश्चयतो यथा ॥ १० ॥
युक्तं तथाऽन्यद्रव्येणाशुद्धं चिद्रूपमुच्यते।
व्यवहारनयात् शुद्धं निश्चयात् पुनरेव तत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार व्यवहारनयसे शुद्ध भी सोना अन्यद्रव्यके मेलसे अशुद्ध और निश्चयनयसे शुद्ध कहा

जाता है उसीप्रकार शुद्ध भी चिद्रूप, कर्म आदि निकृष्ट द्रव्योंके संबंधसे व्यवहारनयकी अपेक्षा अशुद्ध कहा जाता है और वही शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा शुद्ध कहा जाता है। भावार्थ—वस्तु जैसी होती है वह वैसी ही रहती है उसमें शुद्धता अशुद्धता नहिं हो सकती परंतु व्यवहारसे दूसरी वस्तुके मेलसे वह अशुद्ध कह दी जाती है। जिसप्रकार सोना कभी शुद्ध अशुद्ध नहिं हो सकता वह वही रहता है। परंतु किसी उसके मिलतऊ पदार्थके मेल होजानेसे व्यवहारसे उसै अशुद्ध कहदेते हैं और निश्चयनयसे शुद्ध भी कहते हैं उसीप्रकार चिद्रूप भी कर्म आदिके संबंधके कारण व्यवहारसे अशुद्ध कह दिया जाता है परंतु वह वास्तवमें शुद्ध ही है ॥ १० ॥ ११ ॥

वाह्यांतरन्यसंपर्कों येनांशेन वियुज्यते।
तेनांशेन विशुद्धिः स्यात् चिद्रूपस्य सुवर्णवत् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार वाहिर भीतर किसी भी सुवर्णके अंशका अन्य द्रव्यसे संबंध छूट जाता है तो वह उतने अंशमें शुद्ध कहा जाता है उसीप्रकार चिद्रूपके भी जितने अंशसे कर्म मलका संबंध नष्ट हो जाता है उतने अंशमें वह शुद्ध कहा जाता है ॥ १२ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतारोहणं सुधीः।
कुर्वन् करोति सुदृष्टिर्व्यवहारावलंबनं ॥ १३ ॥

आरुह्य शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वतमुत्तमं ।
तिष्ठेद् यावत्त्यजेत्तावद् व्यवहारावलंबनं ॥ १४ ॥

अर्थ—विद्वान मनुष्य जबतक शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी पर्वतपर आरोहण करता है तबतक तो व्यवहारनयका अवलंबन करता है परंतु ज्योंही शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी विशाल पर्वतपर चढ़कर वह निश्चलरूपसे विराजमान हो जाता है उसीसमय व्यवहारनयका सहारा सर्वथा छोड़देता है। भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपका ध्यान करै तबतक व्यवहारनयका सहारा रक्खे किंतु जिससमय उसके ध्यानमें पूर्णरूपसे लीन होजाय-चल विचल परिणाम होनेका भय न रहै उससमय सर्वथा व्यवहारनयका सहारा छोड़ दे ॥ १३ ॥ १४ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपर्वतादवरोहणं ।
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबनं ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजनके लिये शुद्धचिद्रूपके निश्चलध्यानरूपी पर्वतसे उतरना होजाय ध्यानकरना छोड़ना पड़े तो उससमय भी व्यवहारनयका नियमसे अवलंबन रक्खे-उससमय यदि व्यवहारनयका अवलंबन न होगा तो भ्रष्टपना आसकता है ॥ १५ ॥

याता यांति च यास्यंति ये भव्या मुक्तिसंपदं ।
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्च निश्चयं ॥ १६ ॥
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयं ।
व्यवहारं कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मोक्षरूपी संपत्तिको प्राप्त हो गये, होरहे हैं और होवेंगे उन सबने पहिले व्यवहारनयका अवलंबन किया है क्योंकि विना कारणके कार्य कदापि नहिं हो सकता। व्यवहारनय कारण है और निश्चयनय, कार्य है इसलिये विना व्यवहारके निश्चय भी कदापि नहि हो सकता ॥ १६ ॥ १७ ॥

जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च ।
निश्चयं व्यवहारं तन्नयं भज यथाविधि ॥ १८ ॥

अर्थ—व्यवहार और निश्चयनयका जैसा स्वरूप बतलाया है उसीप्रकार उसे जानकर उनका इसरीतिसे अवलंबन करना चाहिये जिससे कि जैन शास्त्रोंमें विश्वास और भगवान जिनेंद्रसे उक्त चारित्रमें भक्ति बनी रहे ॥१८॥

व्यवहारं विना केचिन्नष्टा केवलनिश्चयात् ।

निश्चयेन विना केचित्केवलव्यवहारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य तो संसारमें व्यवहारका सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्धनिश्चयनयके अवलंबनसे नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और बहुतसे निश्चयनयको छोड़कर केवल व्यवहारका ही अवलंबन कर नष्ट होजाते हैं। भावार्थ—संसारमें प्राणियोंकी रुचि भिन्न भिन्न रूपसे होती है बहुतसे मनुष्य तो केवल शुद्धनिश्चयावलंबी हो मनमें यह दृढ़ संकल्पकर कि हमारा आत्मा सिद्ध-शुद्ध है वह बुरा भला कुछ नहिं करता जो कुछ करता है सो जड़ शरीर ही करता है और उससे हमै कोई संबंध नहीं, भ्रष्ट होजाते हैं और चारित्रको सर्वथा जलांजलि दे उन्मार्गगामी बन नाना प्रकारके अत्याचार करने लगजाते हैं तथा अनेक मनुष्य केवल व्यवहारनयका ही अवलंबनकर क्रिया कांडोंमें ही उलझे रहजाते हैं और निश्चयनयकी ओर झांककर भी नहिं देखते इसलिये मोक्षके पात्र न होनेसे वे भी भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोकनं ।
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः ॥ २० ॥

अर्थ—जिसप्रकार एक नेत्रसे भलेप्रकार पदार्थोंका अवलोकन नहिं होता दोनों ही नेत्रोंसे पदार्थ भलेप्रकार

दीख सकते हैं उसीप्रकार एकनयसे कभी कार्य नहिं चलसकता व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंसे ही निर्दोष-रूपसे कार्य हो सकता है ऐसा स्याद्वादमतके धुरंधर विद्वानोंका मत है ॥ २० ॥

निश्चयं क्वचिदालंब्य व्यवहारं क्वचिन्नयं ।
विधिना वर्त्तते प्राणी जिनवाणीविभूषितः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो जीव भगवान जिनेंद्रकी वाणीसे भूपित हैं उनके वचनोंपर पूर्णरूपसे श्रद्धान रखने वाले हैं वे कहीं व्यवहारनयसे काम चलाते हैं और कहीं निश्चयनयका सहारा लेते हैं। अर्थात् जहां जैसा अवसर देखते हैं वहां वैसा ही उसी नयको आश्रयकर कार्य करते हैं ॥ २१ ॥

व्यवहाराद्वहिः कार्यं कुर्याद्विधिनियोजितं ।
निश्चयं चांतरं धृत्वा तत्त्ववेदी सुनिश्चलं॥ २२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव तत्वज्ञानी हैं भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं वे अंतरंगमें भलेप्रकार निश्चयनयको धारण कर व्यवहारनयसे अवसर देखकर वाह्यमें कार्यका संपादन करते हैं। अर्थात् दोनों नयोंको काममें लाते हैं एक नयसे कोई काम नहिं करते ॥ २२ ॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यतां ।
नयादिरहितं शुद्धचिद्रूपं तदनंतरं ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणाय नयावलंबनप्रतिपादकः सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नयोंके अधीन है पश्चात् शुद्धचिद्रूपके प्राप्त हुये वाद नयोंके अवलंबनकी कोई आवश्यकता नहीं । भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं होती तबतक नयोंसे काम है परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके वाद कोई नय कार्यकारी नहीं उससमय नयोंकी अपेक्षाके विना ही शुद्धचिद्रूप प्रकाशमान रहता है॥२३॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेके लिये नयोंके आश्रयको वर्णन करनेवाला सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवां अध्याय ।

छेत्रीसूचीक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूषयंत्रै-
स्तुल्या पाथःकतकफलवद्धंसपक्षिस्वभावा ।

शस्त्रीजायुस्वधितिसदृशा टंकवैशाखवद्वा
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस महानुभावकी बुद्धि छैनी सुई आरा पवन सीसा अग्नि ऊपयंत्र (कोलू) कतकफल (फिटकरी) हंसपक्षी, छुरी, जायु, दांता, टांकी और वैशाखके समान जड़ और चेतनके भेद करनेमें समर्थ होगई है उसी महानुभावको चिद्रूपकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—जिसप्रकार छैनी, सुई, आरा, मिले हुये पदार्थके दो टुकड़े कर देते हैं। पवन गंधको जुदा उड़ाकर लेजाता है। सीसा सोने चांदीको शुद्ध करदेता है। अग्नि, सोना आदिको मैलसे शुद्ध करदेती है। कोलू, ईखके रसको जुदा करदेता है। छुरी आदि, मिले हुये पदर्थके टुकड़े टुकड़े कर-डालते हैं उसीप्रकार जिस महानुभावकी बुद्धिने भी अनादिकालसे एकमएक जड़ और चेतनको जुदा जुदा कर पहि-चान लिया है वही चिद्रूपका लाभ कर सकता है अन्य नहीं ॥ १ ॥

स्वर्णं पाषाणसूताद्वसनमिव मलात्ताम्ररूप्यादि हेम्नो
वा लोहादग्निरिक्षो रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात्।
ताम्रं तैलं तिलादे रजतमिव किलोपायतस्ताम्रमुख्यात्

दुग्धान्नीरं घृतं च क्रियत इव पृथक् ज्ञानिनात्मा शरीरात् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्णपाषाणसे सोना भिन्न किया जाता है, मैलसे वस्त्र, सोनेसे तांबा चांदी आदि पदार्थ, लोहसे अग्नि, ईखसे रस, कीचड़से जल, केकी (मयूर) के पंखसे तांबा, तिल आदिसे तैल, तांबा आदि धातुओंसे चांदी, और दूधसे जल एवं घी जुदा करलिया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है-जड़ चेतनका वास्तविक ज्ञान रखता है वह शरीरसे आत्माको जुदा कर पहिचानता है । भावार्थ-मोक्ष अवस्थाके पहिले आत्मा और शरीरका संबंध अनादिकालसे है। ऐसा कोई भी अवसर प्राप्त न हुआ जिसमें शरीर और आत्मा सर्वथा जुदे हुये हों तथा अज्ञानियोंको शरीर और आत्मा दोनों एक ही जान पड़ते हैं, उन्हें भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं। परंतु ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अवश्य भेद है क्योंकि जिसप्रकार अनादिकालसे मिले हुये सोनेके पाषाण और सोनेको, मैल और वस्त्रको, तांबा और चांदी सोनेको, लोह और अग्निको, ईख और उसके रसको, कीचड़ और पानीको, मौरके पंख और तांबेको, तिल तैलको, तांबा आदि धातु और चांदीको, क्षीर नीर व घीको सर्वथा जुदा जुदा कर जान लिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानी भी शरीर और आत्माको सर्वथा जुदा जुदा कर पहिचानता है ॥ २ ॥

देशं राष्ट्रं पुराद्यं स्वधनजनकुलं वर्णपक्षं स्वकीय–

ज्ञातिं संबंधिवर्गं कुलपरिजनकं सोदरं पुत्रजाये।
देहं हृद्वाग्विभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनि भित्त्वा
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥ ३ ॥

अर्थ—देश, राष्ट्र, पुर गांम, जनसमुदाय, धन, वन, ब्राह्मण आदि वर्णोंका पक्षपात, जाति, संबंधी, कुल, परिवार, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय, और वाणी ये सब पदार्थ विकारके करनेवाले हैं इनको अपना मानकर स्मरण करनेसे ही चित्त, शुद्धचिद्रूपकी ओरसे हट जाता है-चंचल हो उठता है तथा मैं करता और कारण आदि हूं इत्यादि कारकोंके स्वीकार करनेसे भी चित्तमें चल विचलता उत्पन्न होजाती है इसलिये स्वाभाविक गुणोंके भंडार शुद्धचिद्रूपको ही मैं निर्विभागरूपसे-कर्ता कारणका कुछ भी भेद न कर स्मरण मनन ध्यान करता हूं। भावार्थ—चित्तमें किसीप्रकारकी चंचलताका न आना-परिणामोंका आकुलतामय न होना ही परम सुख है मैं देखता हू जिससमय देश राष्ट्र पुर कुल जाति परिवार आदिका विचार किया जाता है उनके रहन सहनपर ध्यान दिया जाता है तो मेरा चित्त आकुलतामय होजाता है रंचमात्र भी परिणामोंको शांति नहिं मिलती परंतु शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेसे चित्तमें किसी प्रकारकी खट खट नहिं होती एकदम शांतिका संचार होने लग जाता है इसलिये समस्त जगतके जंजालको छोड़कर मैं शुद्धचिद्रूपका ही स्मरण करता हूं उसीसे मेरा कल्याण होगा ॥३॥

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्लेश (पिपासा) की शांतिके लिये जलके ऊपर पुरी हुई काईको अलगकर शीतल सुरस निर्मल जल पीया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं दुःखोंसे दूर होना चाहते हैं वे समस्त संसारके विकल्प जालोंको छोड़कर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृतका पान करते हैं-अपने चित्तको द्रव्य आदिकी चिंताकी ओर नहिं झुकने देते ॥ ४ ॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इस आत्मध्यानसे बढ़कर न तो कहीं किसी कालमें कोई सुख है न तप है और न मोक्ष ही है अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है इसलिये इसीको परम कल्याणका कर्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।

मन्यंते सफलं सुजन्म मुदिता मोहाविभूता नरा
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मोहके मदमें मत्त बहुतसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त होनेसे ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इंद्रियजन्य सुख, सुंदर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनोंकी प्राप्तिसे अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतोंको बल उत्तममित्र विद्वत्ता और मनोहररूप आदिकी प्राप्तिसे संतोष होजाता है परंतु मैं आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे अपना जन्म सफल मानता हू। भावार्थ– यह जीव अनादि कालसे इस संसारमें घूम रहा है कई वार इसै कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन पुत्र और सेवक प्राप्त होचुके हैं। बहुत वार यह स्वामी-राजा भी होगया है। इसै उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान, और रूप आदिकी भी अनेकवार प्राप्ति होचुकी है। परंतु मोहके जालमें फंसनेके कारण इसै जरा भी होश नहिं होता और पुनः पुत्र आदिकी प्राप्तिसे अपने जन्मको कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझै संसारके चरित्रके भलेप्रकार ज्ञानसे इनकी प्राप्तिसे किसीप्रकारका संतोष नहिं होता इसलिये मै भेदविज्ञानसे ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूं ॥ ६ ॥

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।
भेदविज्ञानवज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥ ७ ॥

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्लेश (पिपासा) की शांतिके लिये जलके ऊपर पुरी हुई काईको अलगकर शीतल सुरस निर्मल जल पीया जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं दुःखोंसे दूर होना चाहते हैं वे समस्त संसारके विकल्प जालोंको छोड़कर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृतका पान करते हैं-अपने चित्तको द्रव्य आदिकी चिंताकी ओर नहिं झुकने देते ॥ ४ ॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इस आत्मध्यानसे बढ़कर न तो कहीं किसी कालमें कोई सुख है न तप है और न मोक्ष ही है अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है इसलिये इसीको परम कल्याणका कर्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुखं वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।

मन्यंते सफलं सुजन्म मुदिता मोहाविभूता नरा
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवलं ॥ ६ ॥

अर्थ—मोहके मदमें मत्त बहुतसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त होनेसे ही अपना जन्म धन्य समझते हैं। अनेक इंद्रियजन्य सुख, सुंदर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनोंकी प्राप्तिसे अपना जन्म सफल मानते हैं और बहुतोंको बल उत्तममित्र विद्वत्ता और मनोहररूप आदिकी प्राप्तिसे संतोप होजाता है परंतु मैं आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानसे अपना जन्म सफल मानता हू। भावार्थ– यह जीव अनादि कालसे इस संसारमें घूम रहा है कई बार इसै कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन पुत्र और सेवक प्राप्त होचुके हैं। बहुत वार यह स्वामी-राजा भी होगया है। इसै उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान, और रूप आदिकी भी अनेकवार प्राप्ति होचुकी है। परंतु मोहके जालमें फंसनेके कारण इसै जरा भी होश नहिं होता और पुनः पुत्र आदिकी प्राप्तिसे अपने जन्मको कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझै संसारके चरित्रके भलेप्रकार ज्ञानसे इनकी प्राप्तिसे किसीप्रकारका संतोष नहिं होता इसलिये मैं भेदविज्ञानसे ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हूं॥ ६ ॥

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।
भेदविज्ञानवज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥ ७ ॥

अर्थ—आत्मारूपी भूमिमें कर्मरूपी अभेद्य पर्वत, तभीतक निश्चलरूपसे स्थिर रह सकते हैं जबतक भेदविज्ञान-रूपी वज्र इनके मस्तकपर पड़कर इन्हें चूर्ण चूर्ण नहीं कर डालता। भवार्थ–जबतक भेदविज्ञान नहिं होता तभी तक कर्म आत्माके साथ लगे रहते हैं परंतु भेदविज्ञान होते ही कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥ ८ ॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः ।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चिद्रूपमें प्रेम करानेवाला है वह संसारमें दुर्लभ है उससे भी दुर्लभ चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त होजाय तो चिद्रूपके स्वरूपका उपदेशक गुरु नहिं मिलता इसलिये उससे गुरुकी प्राप्ति दुर्लभ है गुरु भी प्राप्त होजाय तो जिसप्रकार चिंतामणि रत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है उसी-प्रकार भेदविज्ञानकी प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है। भावार्थ–प्रथम तो चिद्रूपके ध्यानमें रुचि नहिं होती यदि रुचि होजाय तो चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र नहिं मिलता कदाचित् शास्त्र प्राप्त होजाय तो उसका

उपदेशक गुरु नहिं प्राप्त होता गुरुकी प्राप्ति होजाय तो भेदविज्ञानकी प्राप्ति जल्दी नहिं होती इसलिये भेद-विज्ञानकी प्राप्ति सबसे दुर्लभ है ॥ ८ ॥ ९ ॥

भेदो विधीयते येन चेतनाद्देहकर्मणोः ।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जिसके द्वारा आत्मासे देह और कर्मका तथा देह एवं कर्मसे उत्पन्न हुई विक्रियाओंका भेद जाना जाय उसे भेदज्ञान कहते हैं ॥ १० ॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपःश्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥ ११ ॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति विना भेदविज्ञानके कदापि नहिं हो सकती इसलिये तपस्वी वा श्रुतज्ञानी किसी महानुभावने विना भेदविज्ञानके आजतक कहीं भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति न कर पाई न करही सक्ता है जिसने शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकी है उसने भेदविज्ञानसे ही की है ॥ ११ ॥

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।

क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्नि देखते देखते तृणोंके समूहको जलाकर खाक करदेती है उसीप्रकार जो भेदविज्ञानी है वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करनेवाले कर्मसमूहको क्षणभरमें समूल नष्ट करदेता है-भेदविज्ञानीकी आत्माके साथ किसी प्रकारके कर्मका संबंध नहिं रहता ॥ १२ ॥

अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो महानुभाव समस्त शास्त्रोंमें विशारद है और शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका अभिलाषी है उसे चाहिये कि वह एकाग्र हो भेदविज्ञानकी ही भावना करे-भेदविज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थमें ध्यान न लगावे ॥१३॥

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥ १४ ॥

अर्थ—अपने-आत्माके ज्ञानसे संवर और निर्जराकी प्राप्ति होती है आत्माका ज्ञान भेदविज्ञानसे होता है इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदज्ञानकी ही भावना करे । भावार्थ–संवर (कर्मोंके आगमनका रुक

जाना) और निर्जरा (क्रम २ से अवशिष्ट कर्मोंका क्षय होना) की प्राप्ति के बाद मोक्षकी प्राप्ति होती है संवर और निर्जराका लाभ आत्मज्ञानसे होता है और आत्मज्ञान भेदज्ञानसे होता है इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदविज्ञानको सबमें कार्यकारी जान उसीकी भावना करै ॥ १४ ॥

लब्धा वस्तुपरीक्षा च शिल्पादिसकला कला ।
बह्वी शक्तिर्विभूतिश्च भेदज्ञप्तिर्न केवला ॥ १५ ॥

अर्थ—इस संसारके अंदर अनेक पदार्थोंकी परीक्षा करना भी सीखा। शिल्प आदि अनेक प्रकारकी कलायें भी हासिल कीं। बहुतसी शक्तियां और विभूतियां भी प्राप्त कीं। परंतु भेदविज्ञानका लाभ आजतक न हुआ ॥ १५ ॥

चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्न बुध्यते ।
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभंजनात् ॥ १६ ॥

अर्थ—शरीर और आत्माके भेदविज्ञानरूपी महापवनके सामने, चिद्रूपके स्वरूपको ढकनेवालीं मोहकी रेणुयें न मालूम कहां किनारा कर जाती हैं ? भावार्थ—जिसप्रकार जबतक बलवान पवन नहिं चलती तभीतक धूलिके रेणु इकट्ठा रहते हैं किंतु पवनके चलते ही उनका पता तक नहिं लगता उसीप्रकार जबतक शरीर और

आत्माका भेदविज्ञान नहिं होता-वे जुदे जुदे नहि जान लिये जाते तभी तक मोहका पर्दा आत्माके ऊपर पड़ा रहता है परंतु भेदविज्ञानके प्राप्त होते ही वह एक दम लापता होजाता है-अन्वेषण करनेपर भी उसका जरा भी खोज नहिं चलता ॥ १६ ॥

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥ १७ ॥

अर्थ—यह भेदविज्ञान, शुद्धचिद्रूपके दिखानेमें जाज्वल्यमान दीपक है और अनादिकालसे विद्यमान मोहरूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेवाला है। भावार्थ—जिसप्रकार दीपकसे घट पट आदि पदार्थ स्पष्टरूपसे दीखते हैं और अंधकारका नाश होजाता है उसीप्रकार भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका भलेप्रकार दर्शन होता है और मोहरूपी गाढ़ अंधकार भी बहुत शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ १७ ॥

भेदविज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते ।
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितं ॥ १८ ॥

अर्थ—योगिगण भेदविज्ञानरूपी नेत्रकी सहायतासे सिद्धस्थान वा शरीरमें विद्यमान समस्त कर्मोंसे रहित

शुद्धचिद्रूपको स्पष्टरूपसे देखलेते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार गृह आदि स्थानोंपर स्थित पदार्थ नेत्रसे भलेप्रकार देख जान लिये जाते हैं उसीप्रकार सिद्धस्थान (मोक्ष) वा अपने शरीरमें विद्यमान समस्त कर्मोंसे रहित इस शुद्धचिद्रूपको दिखानेवाला जो भेदविज्ञान है उसके द्वारा योगी शुद्धचिद्रूपको भी स्पष्टरूपसे देखलेते हैं॥ १८॥

मिलितानेकवस्तूनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक्।
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन निःशंकं ज्ञायते यथा ॥ १९॥
तथैव मिलितानां हि शुद्धचिद्देहकर्मणां।
अनुभूत्या कथं सद्भिः स्वरूपं न पृथक् पृथक्॥ २०॥ युग्मं॥

अर्थ—जिसप्रकार विद्वान मनुष्य आपसमें मिले हुये भी अनेक पदार्थोंका स्वरूप स्पर्श आदिके द्वारा स्पष्टरूपसे जुदा जुदा पहिचान लेते हैं उसीप्रकार आपसमें अनादिकालसे मिले हुये शुद्धचिद्रूप शरीर और कर्मोंके स्वरूपको भी अनुभव ज्ञानके बलसे वे विना किसी रोक टोकके स्पष्टरूपसे जुदा जुदा जान लेते हैं। भावार्थ–संसारमें पदार्थोंके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं और उनके बतलानेवाले लक्षण भी जुदे जुदे हैं। जल और अग्नि आदि पदार्थ एक स्थानपर स्थित रहनेपर भी अपने शीत और उष्ण स्पर्शसे स्पष्टरूपसे जुदे जुदे जानलिये जाते हैं क्योंकि शीत स्पर्श सिवाय जलके और उष्णस्पर्श सिवाय अग्निके किसी पदार्थमें नहिं रहता उसीप्रकार यद्यपि शुद्धचिद्रूप,

और शरीर कर्म अनादिकालसे आपसमें एकम एक होरहे हैं। आजतक कभी ऐसा अवसर न आया जिसमें ये सर्वथा जुदे जुदे हुये हों तथापि अनुभव-भेदविज्ञानके बलसे इनको जुदा जुदा कर जान लिया जाता है-यह शुद्धचिद्रूप है और ये जड़ शरीर और कर्म हैं यह बात खुलासारूपसे समझमें आजाती है ॥ १९ ॥ २० ॥

आत्मानं देहकर्माणि भेदज्ञाने समागते ।
मुक्त्वा यांति यथा सर्पा गरुडे चंदनद्रुमं ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चंदनवृक्षपर लिपटा हुआ सर्प अपने वैरी गरुड़ पक्षीके देखते ही तत्काल आंखोंके ओझल हो जाता है पता लगाने पर भी उसका पता नहिं लगता उसीप्रकार भेदविज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त कर्म आत्माको छोड़कर न मालूम कहां लापता होजाते हैं विरोधी भेदविज्ञानके उत्पन्न होते ही कर्मोंकी सूरत भी नहिं दीख पड़ती ॥ २१ ॥

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली ।
भवेद्देवाधिदेवोपि तीर्थकर्त्ता जिनेश्वरः ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तये भेदविज्ञानप्राप्ति प्रतिपादकोऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अर्थ—इसी भेदविज्ञानके बलसे यह आत्मा शुद्धचिद्रूपको प्राप्तकर केवलज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगता है। भावार्थ–केवली जिनेश्वर आदि पदोंकी प्राप्ति अतिकठिन है परंतु भेदविज्ञानियोंको नहीं क्योंकि जो महानुभाव अपने भेदविज्ञानरूपी अखंडबलसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करलेते हैं वे केवलज्ञानरूपी अचिंत्यविभूतिसे मंडित होजाते हैं समस्त देवोंके स्वामी तीर्थंकर और जिनेश्वर भी कहलाने लगते हैं इसलिये यह भेदविज्ञान संसारकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला अनुपम चिंतामणि रत्न है ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरांगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करनेके लिये भेदविज्ञानकी प्राप्तिका बतलानेवाला आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमा अध्याय।

अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतराः।
एतेऽदश्चिंतनं मोहो यतः किंचिन्न कस्यचित् ॥ १ ॥

अर्थ–ये चेतन और जड़ पदार्थ परके वा अपने हैं इसप्रकारका मनमें चिंतवन करना ही मोह है क्योंकि

यदि वास्तवमें देखा जाय तो कोई पदार्थ किसीका नहीं। भावार्थ—सिवाय शुद्धचिद्रूपके संसारमें कोई पदार्थ अपना नहीं इसलिये स्त्री पुत्र आदि चेतन, धन माल खजाना आदि अचेतन पदार्थोंमें अपने मनका संकल्प विकल्प करना मोह है ॥ १ ॥

दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्त्तिरुज्ज्वला।
अनुज्ज्वलापकीर्त्तिर्वा मोहस्तेनेति चिंतनं ॥ २ ॥

अर्थ—इसने मेरा आदर सत्कार किया इसने मेरा अपमान अनादर किया, इसने मेरी उज्वल कीर्ति फैलाई और इसने मेरी अपकीर्ति फैलाई इसप्रकारका मनमें विचार लाना ही मोह है। भावार्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय तो किसका आदर ? किसका अनादर ? किसकी कीर्ति ? और किसकी अपकीर्ति ? सब बातें मिथ्या हैं परंतु मोहसे मूढ़ यह प्राणी आदर अनादरका विचार करने लग जाता है इसलिये उसका इसप्रकारका विचार करना प्रबल मोह है ॥ २ ॥

किं करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुखं कुतः।
किमाश्रयामि किं वच्मि मोहश्चिंतनमीदृशं ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? कैसे सुखी हों किसका सहारा लूं और क्या कहूं ? इसप्रकारका विचार करना भी मोह है । निर्मोही वीतराग ऐसे विचारको सर्वथा मिथ्या मान कभी ऐसा विचार नहिं करते ॥ ३ ॥

चेतनाचेतने रागो द्वेषो मिथ्यामतिर्मम ।
मोहरूपमिदं सर्वं चिद्रूपोऽहं हि केवलः ॥ ४ ॥

अर्थ—ये जो संसारमें चेतन अचेतन रूप पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे मेरे हैं या दूसरेके हैं इसप्रकार राग और द्वेषरूप विचार करना मिथ्या है क्योंकि ये सब मोहस्वरूप हैं और मेरा स्वरूप शुद्धचिद्रूप है इसलिये ये मेरे कभी नहिं हो सकते ॥ ४ ॥

देहोऽहं मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम ।
कलत्रादिरहं वा मे मोहोऽदश्चिंतनं किल ॥ ५ ॥

अर्थ—मैं शरीरस्वरूप हूं वा शरीर मेरा है मैं कर्मका उदयस्वरूप हूं वा कर्मका उदय मेरा है मैं स्त्री पुत्र आदि स्वरूप हूं वा स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारका विचार करना भी सर्वथा मोह है-देह आदिमें मोहके होनेसे ही ऐसे विकल्प होते हैं ॥ ५ ॥

तज्जये व्यवहारेण संत्युपाया अनेकशः ।
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनं ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे इस उपर्युक्त मोहके नाश करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं निश्चयनयसे मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा विचार करने मात्रसे ही इसका सर्वथा नाश होजाता है। भावार्थ—यह मेरा है यह तेरा है मैं शरीर आदि स्वरूप हूं शरीर आदि मेरे स्वरूप हैं इसप्रकारका विचार करना जो पहिले मोह बतला आये हैं उस मोहका नाश व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य अभ्यंतर परिग्रहके त्यागसे तप आदिके आचरण करनेसे होता है और निश्चयनयसे 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा विचार करनेसे ही वह समूल नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥

धर्मो द्वारविनाशनादि कुरुते कालो यथा रोचते
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितं ।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते
तच्चितामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनं ॥ ७ ॥

अर्थ—कालके अनुसार धर्म, कर्मोंके आगमनके द्वारको रोकता है। पहिलेका उपार्जन किया हुआ कर्म

इंद्रियोंके उत्तमोत्तम सुख वा नानाप्रकारके क्लेश भुगाता है। जो पदार्थ जैसे और जिस रीतिसे हैं वे उसीरीतिसे विद्यमान है इसलिये हे आत्मन्! तू उनकेलिये किसी बातकी चिंता न कर, अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर ध्यान दे। भावार्थ—जो पदार्थ जैसा है वह उसी रूपसे है वास्तविक दृष्टिसे रत्तीभर भी उसमें हेर फेर नहिं हो सकता। देखो! कालके अनुसार धर्मसे कर्मोंका आना बंद होता है और नाश होता है। पहिले उपार्जन किये कर्मसे संसारमें सुख दुःख भोगना पड़ता है और भी जो पदार्थ जिसरूपसे हैं वे उसीरूपसे स्थित हैं तब उनके विषयमें चिंता करना व्यर्थ है इसलिये आत्माको चाहिये कि वह समस्त प्रकारकी चिंताओंका परित्यागकर अपने शुद्ध चिद्रूपकी ही चिंता करै। उसीकी चिंतासे उसका कल्याण हो सकता है ॥ ७ ॥

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गंधमय है। विष्ठा मूत्र आदि मलोंका घर है। निंदितकर्मकी कृपासे मल मज्जा आदि

धातुओंसे बना हुआ है तथापि मूढ़ मनुष्योंने अपने स्वार्थकी पुष्टिकेलिये इच्छानुसार इसकी प्रशंसाकी है परंतु मुझे इस शरीरकी प्रशंसा और निंदासे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मैं निश्चयनयसे शरीर कर्म और उनसे उत्पन्न हुये विकारोंसे रहित शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूं। भावार्थ–यदि यह शरीर मेरा वा मेरे समान होता तो मुझे इसकी प्रशंसा निंदा करनी पड़ती सो तो है नहीं क्योंकि यह महा अपवित्र है जड़ है और मै शुद्धचिद्रूप हूं इसलिये कभी भी इसकी मेरे साथ तुलना नहिं हो सकती इसलिये मुझे इसकी प्रशंसा वा निंदासे कोई लाभ नहीं ॥ ८ ॥

कीर्तिं वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुतिं तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ॥ ९ ॥

अर्थ—संसारमें बहुतसे मोही पुरुष कीर्तिके लिये काम करते हैं। अनेक दूसरोंके प्रसन्न करनेके लिये, इंद्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिके लिये, अपने जीवनकी रक्षाके लिये, संतान परिग्रह भय ज्ञान दर्शन तथा अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके अभावकेलिये काम करते हैं और बहुतसे कीर्ति आदिके कारणोंके मिलानेके लिये उपाय सोचते रहते हैं। परंतु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं अपनी आत्माको सुखी बनाना चाहते हैं वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये

ही कार्य करते हैं। भावार्थ-संसारमें जीव भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके हैं कोई मनुष्य संसारमें कीर्तिलाभ करना ही अच्छा समझते हैं, बहुतसे परको प्रसन्न करनेसे ही अपनेको सुखी मानते हैं, अनेक इंद्रियोंके विषयोंमें प्रसन्न रहते हैं कोई कोई अपने जीवनकी रक्षा, संतानकी उत्पत्ति और परिग्रहकी एकत्रता करना ही अच्छा समझते हैं, बहुतसे ज्ञान दर्शन आदि अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके दूर करनेके लिये ही चिंता करते रहते हैं तथा इनकी प्राप्तिके उपाय और उनके अनुकूल कार्य भी किया करते हैं परंतु ऐसे मनुष्य संसारमें उत्तम नहिं गिने जाते। मोहके जालमें जिकडे हुये कहे जाते हैं। किंतु जो बुद्धिमान मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये कार्य करते हैं और उसकी प्राप्तिके उपायोंको सोचते हैं वे प्रशस्य गिने जाते हैं ॥ ९ ॥

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुखं ॥ १० ॥

अर्थ—मैने शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भलेप्रकार जानलिया है इसलिये मेरे चित्तमें देवेंद्र नागेंद्र और नरेंद्रोंके सुख जीर्णतृण सरीखे जान पड़ते हैं परंतु जो मनुष्य अल्पज्ञानी हैं अपने और परके स्वरूपका भले प्रकार ज्ञान नहिं रखते वे निंदित स्त्रियां लक्ष्मी घर शरीर और पुत्रसे उत्पन्न हुये सुखको जो कि दुःख स्वरूप है, सुख मानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १० ॥

न वद्धः परमार्थेन वद्धो मोहवशाद् गृही ।
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत् ॥ ११ ॥

अर्थ—भय करानेवाले पाशके समान अथवा वंदरकी मुठीके ममान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टिसे कर्मोंसे संवद्ध नहिं है तथापि मोहसे वंधाही हुआ है। भावार्थ—जिसप्रकार नलिनीपर लटकता हुआ शुक यद्यपि पाशसे वंधा हुआ नहिं रहता तथापि वह अपनेको पाशसे वंधा हुआ मानता है और अपनी सुधिबुधिको भूलकर उसको छोड़ना नहिं चाहता-लटकता ही रहता है तथा यद्यपि वंदरकी मुट्ठी वास्तवरूपसे नहिं वंधती तथापि वह वंधी सरीखी जान पड़ती है । उसीप्रकार यदि परमार्थसे देखा जाय तो यह जीव किसीप्रकारके कर्मोंसे वंधा हुआ नही है तथापि व्यवहारसे यह मोहके गाढ़ वंधनमें जिकड़ा हुआ ही है ॥ ११ ॥

श्रद्धानां पुस्तकानां जिनभवनमठांतेनिवास्यादिकानां
कीर्त्तेरक्षार्थकानां भुवि झटिति जनो रक्षणे व्यग्रचित्तः ।
यस्तस्य क्वात्मचिंता क्व च विशदमतिः शुद्धचिद्रूपकाप्तिः
क्व स्यात्सौख्यं निजोत्थं क्व च मनसि विचिंत्येति कुर्वंतु यत्नं ॥ १२ ॥

अर्थ—यह संसारी जीव, नाना प्रकारके धर्मकार्य, पुस्तकें, जिनेंद्र भगवानके मंदिर मठ छात्र और कीर्तिकी रक्षा करनेके लिये सदा व्यग्रचित्त रहता है-उन कार्योंसे रंचमात्र भी इसै अवकाश नहिं मिलता इसलिये न यह किसीप्रकारका आत्मध्यान कर सकता न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती और न शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और निराकुलतारूप सुख ही मिल सकता अतः बुद्धिमानोंको चाहिये कि वे इन सब बातोंपर भलेप्रकार विचार कर आत्माके चिंतवन आदि कार्योंमें अच्छी तरह यत्न करैं। भावार्थ—आत्माकी ओर ध्यान लगानेसे विशद-मति—भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका लाभ और उससे फिर निराकुलतारूप सुखकी प्राप्ति होती है। परंतु जब तक धर्मकार्य पुस्तकें और कीर्ति आदिकी रक्षामें व्यग्रता रहैगी तबतक उपर्युक्त एक भी बातकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये जिन महाशयोंके शुद्धचिद्रूप आदि पदार्थोंकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उन्हैं चाहिये कि वे संसारकी समस्त खटपटोंसे रहित हो शांतचित्त हों॥ १२॥

अहं भ्रांतः पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशतः
परद्रव्ये चिंतासततकरणादाभवमहो।
परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानंदनिलये

निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे ॥ १३ ॥

अर्थ—मोहके फंदमें पड़कर परद्रव्योंकी चिंता और उन्हें अपनानेसे प्रथम तो मैंने संसारमें परिभ्रमण किया और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जनसमूह घूमा इसलिये जो महापुरुष परद्रव्योंसे ममता छोड़कर चिदानंद स्वरूप निज द्रव्यमें विहार करनेवाला है-निजद्रव्यका ही मनन स्मरण ध्यान करनेवाला है उस महात्मा को मैं अपने चित्तमें धारण करता हूं। भावार्थ-इस संसारमें सबसे बलवान मोहनीय कर्म है और उसके फंदमें पड़कर जीव नाना प्रकारके क्लेश भोगते रहते हैं। इसी मोहके फंदमें फसकर परद्रव्योंकी चिंतामें व्यग्र हो मैंने बहुत कालतक इस संसारमें भ्रमण किया और मेरे पीछे और भी बहुतसे जीव घूमते रहै परंतु इस संसारमें ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं जिन्होंने मोहको सर्वथा निर्मूल कर दिया है और समस्त परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्व छोड़कर आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें चित्त स्थिर किया है इसलिये अब मैं ऐसे ही महापुरुषोंका शरण लेना चाहता हूं इन्हींके शरणमें जानेसे मेरा कल्याण होगा ॥ १३ ॥

हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति।
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूपका स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते हैं वे चिंतामणि रत्नका त्यागकर पाषाण ग्रहण करते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १४ ॥

स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं परं स्यादात्मचिंतनात् ।
तन्मुक्त्वा प्राप्तुमिच्छंति मोहतस्तद्विलक्षणं ॥ १५ ॥

अर्थ—इस आत्माके चिंतवनसे-शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे निराकुलतारूप सुख और उत्तमज्ञानकी प्राप्ति होती है परंतु ये मूढ़ जीव मोहके वश होकर आत्माका चिंतवन करना छोड़ देते हैं और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनंत क्लेश देनेवाला है' कर निकलते हैं ॥ १५ ॥

यावन्मोहो बली पुंसि दीर्घसंसारतापि च ।
न तावत् शुद्धचिद्रूपे रुचिरत्यंतनिश्चला ॥ १६ ॥

अर्थ—जबतक इस आत्माके साथ महाबलवान मोहनीय कर्मका संबंध है और दीर्घसंसारता-चिरकालतक संसारमें भ्रमण करना बाकी है तबतक इसका कभी भी शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे प्रेम नहिं होसकता ॥ १६ ॥

अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने

गीतं वाधिर्ययुक्ते वपनमिह यथाऽप्यूषरे वार्यतृष्णे ॥
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघः कुंकुमं नीलवस्त्रे
नात्मप्रीतौ तदाख्या भवति किल वृथा निःप्रतीतौ सुमंत्रः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अंधके लिये नांच, अज्ञानीकेलिये तप, आयुके अंतमें औषधिका प्रयोग, वहिरेकेलिये गीतोंका गाना, ऊसरमें अन्नका बोना, विना प्यासे मनुष्यके लिये जल देना, चिकनेपर चित्रका खीचना, अभव्यको धर्मकी रुचि कहना, काले कपड़ेपर केसरिया रंग और प्रतीति रहित पुरुषके लिये मंत्र प्रयोगकरना कार्यकारी नहीं उसीप्रकार जिसका आत्मामें प्रेम नहीं उस मनुष्यको आत्माके ध्यान करनेका उपदेश भी कार्यकारी नहीं—सब व्यर्थ है। भावार्थ-जिसप्रकार अंधा नांच नहिं देख सकता। अज्ञानी तप नहिं कर सकता। आयुका अंत हो जाने पर दवा काम नहिं दे सकती। वहिरा गीत नहिं सुन सकता। ऊसरमें अन्न नहिं ऊग सकता। विना प्यासे मनुष्यके लिये, जल फल नहिं दे सकता। चिकने पदार्थपर तस्वीर नहिं खिच सकती।अभव्यको धर्म रुचि नहिं हो सकती। काले कपड़ेपर केसरिया रंग नहि चढ़ सकता और अविश्वासी मनुष्यकेलिये मंत्र काम नहि दे सकता। उसीप्रकार आत्मामें प्रेम न करनेवाला मनुष्य भी उसके उपदेशसे कुछ लाभ नहिं उठा सकता इसलिये जीवोंको चाहिये कि वे अवश्य आत्मामें प्रेम करैं ॥ १७ ॥

स्मरंति परद्रव्याणि मोहान्मूढाः प्रतिक्षणं ।
शिवाय स्वं चिदानंदमयं नैव कदाचन ॥ १८ ॥

अर्थ—ये मूढ़ मनुष्य, मोहके वश हो प्रतिसमय परद्रव्यका स्मरण करते हैं परंतु मोक्षके लिये शुद्धचिदानंदका कभी भी ध्यान नहिं करते ॥ १८ ॥

मोह एव परं वैरी नान्यः कोपि विचारणात् ।
ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरात् ॥ १९ ॥

अर्थ—विचार करनेसे मालूम हुआ है, कि यह मोह ही जीवोंका अहित करनेवाला महाबलवान वैरी है इसीके अधीन हो मनुष्य नानाप्रकारके क्लेश भोगते रहते हैं। इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं-आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले इस मोहको जीतें—अपने वशमें करै ॥ १९ ॥

भवकूपे महामोहपंकेऽनादिगतं जगत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्ज्वा सर्वं समुद्धरे ॥ ॥ २० ॥

अर्थ—यह समस्त जगत अनादिकालसे संसाररूपी विशाल कूपके अंदर महामोहरूपी कीचड़में फंसा हुआ

है इसलिये अब मैं शुद्धचिद्रूपके ध्यानरूपी मजबूत रस्सीके द्वारा इसका उद्धार करूंगा। भावार्थ—जिसप्रकार कूवेमें कीचड़के अंदर फंसा हुआ पदार्थ रस्सीके सहारे ऊपर खींच लिया जाता है उसीप्रकार यह समस्त जगत इस संसारमें महामोहसे मूढ़ हो रहा है और इसे अपने हित अहितका जरा भी ध्यान नहीं है इसलिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सहायतासे मैं इसका उद्धार करना चाहता हूं ॥ २० ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥ २१ ॥

अर्थ—संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके ध्यानके, जितने कार्य हैं सब मोहज–मोहके द्वारा उत्पन्न हैं–सबकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण मोह है तथा मोहसे कर्मोंका बंध और उससे अनंतक्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिये सबसे अधिक जीवोंका वैरी मोह ही है ॥ २१ ॥

मोहं तज्जातकार्याणि संगं हित्वा च निर्मलं।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कुरु त्यक्त्वान्यसंगतिं ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानाय मोहत्यागप्रतिपादको नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अर्थ—अतः जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुये समस्त कार्योंका सर्वथा त्याग करदें—उनकी ओर झांककर भी न देखें और समस्त परद्रव्योंसे ममता छोड़ केवल शुद्धचिद्रूपका ही मनन ध्यान और स्मरण करें ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकेलिये मोहके त्यागका वर्णन करनेवाला नववां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥



दशवां अध्याय ।

निरंतरमहंकारं मूढाः कुर्वंति तेन ते ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं विलोकंते न निर्मलं ॥ १ ॥

अर्थ—मूढ़ पुरुष निरंतर अहंकारके वश रहते हैं—अपनेसे बढ़कर किसीको भी नहिं समझते इसलिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर वे जरा भी नहिं देखने पाते। भावार्थ—अहंकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका बाधक है। अहंकारी मनुष्य रूप आदिके मदमें ही उन्मत्त रहते हैं। शुद्धचिद्रूपकी ओर झांक कर भी नहिं देखने

पाते । इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे अहंकारका सर्वथा परित्याग करदें ॥ १ ॥

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा ॥ २ ॥
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥ ३ ॥ युग्मं ॥

अर्थ— मैं देहस्वरूप हूं, कर्म स्वरूप हूं, मनुष्य हूं, कृश हूं, स्थूल हूं, गोरा हूं, काला हूं, ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रिय वैश्य आदि हूं, ब्राह्मण हूं, मूर्ख हूं, विद्वान हूं, निर्धन हूं, धनवान हूं, इत्यादि रूपसे मनमें विचार करना अहंकार है मूढ़ मनुष्य इसी अहंकारमें चूर रहते हैं ॥ २–३ ॥

ये नरा निरहंकारं वितन्वंति प्रतिक्षणं ।
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवंति न संशयः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रतिसमय निरहंकारता प्रकट करते रहते हैं अहंकार नहिं करते उन्हें निस्संदेह अद्वैतस्वरूप शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥ ५ ॥
चिंतनं निरहंकारो भेदविज्ञानिनामिति ।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं परं ॥ ६ ॥ युग्मं ॥

अर्थ— जो मनुष्य भेदविज्ञानी हैं जड़ और चेतनका वास्तविक भेद जानते हैं उनका न मैं देहस्वरूप हूं, न कर्मस्वरूप हूं, न मनुष्य हूं, न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय आदि हूं, न स्थूल हूं, न कृश हूं, किंतु शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूं इस प्रकारका चिंतवन करना निरहंकार "अहंकारका अभाव" है और यह-निरहंकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है ॥ ५–६ ॥

ममत्वं ये प्रकुर्वंति परवस्तुषु मोहिनः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मूढ़ जीव परपदार्थोंमें ममता रखते हैं उन्हें अपनाते हैं उन्हें स्वप्नमें भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती । भावार्थ–संसारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके अपना कोई पदार्थ नहीं स्त्री पुत्र मित्र आदि सब परपदार्थ

हैं इसलिये जो जीव निजपदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हैं परपदार्थोंमें किसीप्रकारका ममत्व न रखना चाहिये ॥ ७ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि मम देहोऽपि वा मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता मम जायात्मजात्मजः ॥ ८ ॥
गौरश्वोऽजो गजो रा विरापणं मंदिरं मम ।
पूः राजा मम देशश्च ममत्वमिति चिंतनं ॥ ९ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्म मेरे हैं शरीर पिता माता वहिन भाई स्त्री पुत्री पुत्र गाय अश्व वकरी हाथी-धन पक्षी बाजार मंदिर मेरे हैं और पुर राजा और देश भी मेरे हैं इसप्रकारका मनमें चिंतवन करना ममत्व है अर्थात् इनको अपनाना ममत्व कहलाता है ॥ ८–९ ॥

निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणां ।
तस्मात्तदार्थिना चिंत्यं तदेवैकं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

अर्थ—जिन किन्हीं विद्वान मनुष्योंकों शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हुई है उन्हैं शरीर आदि परपदार्थोंमें ममता न

रखनेसे ही हुई है इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे निर्ममत्वका ही बार बार चिंतवन करै उसीकी ओर अपनी दृष्टि लगायें ॥ १० ॥

शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोपि नो मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मजः ॥ ११ ॥
गौरश्वो गजो रा विरापणं मंदिरं न मे ।
पूराजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चिंतनं ॥ १२ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—शुभ अशुभ कर्म मेरे नहिं हैं देह, पिता, माता, वहिन, भाई, स्त्री, पुत्री, पुत्र, गाय, अश्व, हाथी धन पक्षी बाजार मंदिर पुर राजा और देश भी मेरे नहीं इसप्रकारका जो मनमें चिंतवन करना है वह निर्ममत्व है ॥ ११ ॥ १२ ॥

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः ।
बंधनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ॥ १३ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारके विचार करनेसे कर्मोंका बंध होता है और ये मेरे नहीं ऐसा विचार

करनेसे कर्म नष्ट होते हैं इसलिये मम (मेरे) ये दो अक्षर तो कर्मबंधके कारण हैं और मम न (मेरे नहीं) इन तीन अक्षरोंके चिंतवन करनेसे कर्मोंकी मुक्ति होती है ॥ १३ ॥

निर्ममत्वं परं तत्त्वं ध्यानं चापि व्रतं सुखं।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतेयत् ॥ १४ ॥

अर्थ---यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्त्व है परम ध्यान, परम व्रत, परम सुख और परम शील है और इससे इंद्रियोंके विषयोंका निरोध होता है इसलिये उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे इस शुद्धचिद्रूपका ही ध्यान करें ।१४।

याता ये यांति यास्यंति भदंता मोक्षमव्ययं।
निर्ममत्वेन ते तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो मुनिगण मोक्ष गये, जारहे हैं, और जांयगे उनको मोक्षकी प्राप्तिमें यह निर्ममत्व ही कारण है इसीकी कृपासे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हुई है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको निर्ममत्वका ही ध्यान करना चाहिये ॥ १५ ॥

निर्ममत्वे तपोपि स्यादुत्तमं पंचमं व्रतं।
धर्मोपि परमस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—परपदार्थोंकी ममता न रखनेसे-भलेप्रकार निर्ममत्वके पालन करनेसे उत्तमतप और पांचवें निष्परिग्रह नामक व्रतका पूर्णरूपसे पालन होता है। सर्वोत्तम धर्मकी भी प्राप्ति होती है इसलिये यह निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ॥ १६ ॥

निर्ममत्वाय न क्लेशो नान्ययांचा न चाटनं ।
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकेलिये न किसीप्रकारका क्लेश भोगना पड़ता है न किसीसे कुछ मागना और चाटुकार (चापलूसी) करना पड़ता है। किसीप्रकारकी चिंता और द्रव्यका व्यय भी नहिं करना पड़ता इसलिये निर्ममत्व ही ध्यान करनेके योग्य है ॥ १७ ॥

नास्रवो निर्ममत्वेन न बंधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकी ओर झुकनेसे अशुभ कर्मका आस्रव और बंध नहिं होता, संयममें भी किसीप्रकारकी हानि नहि आती-वह भी पूर्णरूपसे पलता है इसलिये यह निर्ममत्व ही चिंतवन करनेके योग्य पदार्थ है ॥ १८ ॥

सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी निर्ममत्वेन संयमी।
तपस्वी च भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥ १९ ॥

अर्थ—इस निर्ममत्वकी कृपासे जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानवान संयमी और तपस्वी कहलाता है इसलिये जीवोंको निर्ममत्वका ही चिंतवन कार्यकारी है ॥ १९ ॥

रागद्वेषादयो दोषा नश्यंति निर्ममत्वतः।
शाम्यार्थी सततं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥ २० ॥

अर्थ—इसनिर्ममत्वके भलेप्रकार पालन करनेसे राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट होजाते हैं इसलिये जो मनुष्य शमताके अभिलाषी हैं-अपनी आत्माको संसारके दुःखोंसे मुक्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने मनको सब ओरसे हटाकर शुद्धचिद्रूपकी ओर लगावें-उसीका भलेप्रकार मनन ध्यान और स्मरण करें ॥ २० ॥

विचार्येत्थमहंकारममकारौ विमुंचति।
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा ॥ २१ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानायाहंकारममकारत्यागप्रतिपादको दशमोऽध्यायः ॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि अहंकार और ममकारको अपने वास्तविक स्वरूप-शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करने वाले समझ उनका सर्वथा त्याग करदेता है-अपने मनको रंचमात्र भी उनकी ओर जाने नहिं देता उसै शीघ्र ही संसारमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होजाती है । भावार्थ—हमै शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे ही निराकुलतामय सुख मिल सकता है इसलिये उसीका ध्यान करना आवश्यक है परंतु जबतक स्त्री पुत्र आदि परपदार्थ मेरे हैं और मैं उनका हूं वा मैं देहस्वरूप कर्मस्वरूप हूं ऐसा विचार चित्तके अंदर बना रहता है तबतक कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नहिं हो सकता इसलिये जो मुनिगण शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलापी हैं उन्हैं चाहिये कि वे अहंकार ममकारका सर्वथा त्याग करदें और शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी ओर अपना चित्त झुकावें ॥ २१ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलापी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपका ध्यान करनेकेलिये अहंकार ममकारके त्यागका बतलानेवाला दशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवां अध्याय ।

शांताः पांडित्ययुक्ता यमनियमबलत्यागरैवृत्तवंतः

सद्दोशीलास्तपोर्चानुतिनातिकरणा मौनिनः संत्यसंख्याः ।
श्रोतारश्च कृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गोर्मिधीराः
निःसंगाः शिल्पिनः कश्चन तु विरलः शुद्धचिद्रूपरक्तः ॥ १ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारमें शांतचित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान्, बलवान, धनवान, चारित्रवान् उत्तमवक्ता, शीलवान्, तप पूजा स्तुति और नमस्कार करनेवाले, मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इंद्रियोंके जीतनेवाले, उपसर्गोंके सहनेमें धीरवीर, परिग्रहोंसे रहित और नानाप्रकारकी कलाओंके जानकार असंख्याते मनुष्य हैं तथापि शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमें अनुरक्त कोई एक विरला ही है। भावार्थ—यह संसार नानाप्रकारके जीवोंका स्थान है इसमें बहुतसे मनुष्य शांतचित्त हैं तो बहुतसे विद्वान हैं बहुतसे यमवान्, नियमवान, बलवान, दानवान, धनवान और चारित्रवान हैं। अनेक उत्तमवक्ता, शीलवान, तप पूजा स्तुति और नमस्कार करनेवाले भी हैं। बहुतसे मौनी श्रोता आदि भी हैं, परंतु शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमें लीन बहुत ही कम हैं ॥ १ ॥

ये चैत्यालयचैत्यदानमहसद्यात्राकृतौ कौशला
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ ।

निःसंगाश्च तपस्विनोपि वहवस्ते संति ते दुर्लभा
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये ॥ २ ॥

अर्थ—संसारमें अनेक मनुष्य जिनमंदिरोंका निर्माण प्रतिमाओंका दान उत्सव और तीर्थोंकी यात्रायें करनेमें प्रवीण हैं नानाशास्त्रके जानकार परीपहोंके सहन करनेवाले, परोपकारमें रत, समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित और तपस्वी भी हैं परंतु रागद्वेप और मोहके सर्वथा नाश करनेवाले एवं शुद्धचिद्रूपरूपी तत्त्वमें लीन वहुत ही थोड़े हैं ॥२॥

गणकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रज्ञाः ।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्योतिपी, वैद्य, नैयायिक, पुराणके वेत्ता, पदार्थविज्ञानी, व्याकरण शास्त्रके जानकार, और संगीत आदि कलाओंमें भी प्रवीण वहुतसे मनुष्य हैं परंतु तत्त्वोंके जानकार नहीं ॥ ३ ॥

सुरूपबललावण्यधनापत्यगुणान्विताः ।
गांभीर्यधैर्यधौरेयाः संत्यसंख्या न चिद्रताः ॥ ४ ॥

अर्थ—उत्तमरूप वल लावण्य धन संतान और गुणोंसे भी वहुतसे मनुष्य भूपित हैं, गंभीर धीर और वीर भी असंख्याते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें लीन वहुत ही कम मनुष्य हैं ॥ ४ ॥

जलद्यूतवनस्त्रीविपुद्धगोलकगीतिषु ।
क्रीडंतोऽत्र विलोक्यंते घनाः कोऽपि चिदात्मनि ॥ ५ ॥

अर्थ—अनेक मनुष्य जलक्रीड़ा जूआ वनविहार स्त्रियोंके विलास पक्षियोंके युद्ध गोलीमार क्रीड़ा और गायन आदिमें भी दत्तचित्त दिखाई देते हैं परंतु चिदात्मामें विहार करनेवाला कोई विरला ही दीखता है ॥ ५ ॥

सिंहसर्पगजव्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ ।
रताः संत्यत्र बहवो न ध्याने स्वचिदात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस संसारमें बहुतसे मनुष्य सिंह सर्प हाथी व्याघ्र और अहितकारी-शत्रुआदिके भी वश करनेवाले हैं परंतु शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेवाले नहीं ॥ ६ ॥

जलाग्निरोगराजाहिचौरशत्रुनभस्वतां ।
दृश्यंते स्तंभने शक्ता नान्यस्य स्वात्मचिंतया ॥ ७ ॥

अर्थ—जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, वैरी और पवनके स्तभन करनेमें-उनकी शक्तिको दबादेनेमें भी बहुतसे मनुष्य समर्थ हैं परंतु, आत्मध्यान द्वारा परपदार्थोंसे अपना मन हटानेके लिये सर्वथा असमर्थ

हैं। भावार्थ—यद्यपि जल अग्नि रोग राजा सर्प चोर वैरी आदि पदार्थ संसारमें अत्यंत भयंकर हैं-इनसे अपनी रक्षा करलेना अति कठिन बात है तथापि बहुतसे ऐसे भी बलवान मनुष्य हैं जो इन्हें देखते ही देखते वश करलेते हैं परंतु वे भी अपने आत्मध्यानके बलसे परपदार्थसे ममत्व दूर करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ७ ॥

प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति चिंतनं परवस्तुनः।
सर्वे व्यामोहिता जीवाः कदा कोऽपि चिदात्मनः॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें रहनेवाले जीव प्रायः मोहके जालमें जिकड़े हुये हैं-उन्हें अपनी सुधि बुधिका कुछ भी होश हवास नहीं है इसलिये प्रतिक्षण वे परपदार्थोंका ही चिंतवन करते रहते हैं। उन्हें ही अपनाते हैं। परंतु शुद्ध-चिदात्माका कोई विरला ही चिंतवन करता है ॥ ८ ॥

दृश्यंते बहवो लोके नानागुणविभूषिताः।
विरलाः शुद्धचिद्रूपे स्नेहयुक्ता व्रतान्विताः॥ ९ ॥

अर्थ—बहुतसे मनुष्य संसारमें नानाप्रकारके गुणोंसे भूषित रहते हैं परंतु ऐसे मनुष्य विरले ही हैं जो शुद्धचिद्रूपमें स्नेह करनेवाले और व्रतोंसे भूषित हों ॥ ९ ॥

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ॥ १० ॥
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥ ११ ॥

अर्थ—एकेंद्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जो जीव इस संसारमें अनंतानत भरे हुये हैं उनमें तो शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है परंतु जो जीव पंचेंद्रिय संज्ञी-मनसहित हैं उनमें भी जो आर्य-स्वपर स्वरूपके भलेप्रकार जानकार हैं और आसन्न भव्य-बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं वे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान कर सकते हैं ॥१०॥११॥

शुद्धचिद्रूपसंलीनाः सव्रता न कदाचन ।
नरलोकवहिर्भागेसंख्यातद्वीपवार्धिषु ॥ १२ ॥

अर्थ—ढाई द्वीपतक मनुष्य क्षेत्र है और उससे आगे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं उनमें रहनेवाले भी जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपमें लीन और व्रतोंसे भूषित नहिं हो सकते ॥ १२ ॥

अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वतः ।

ते भवंति न ज्योतिष्के हा हा क्षेत्रस्वभावतः ॥ १३ ॥

अर्थ—समस्त अधोलोक ऊर्ध्वलोक और ज्योतिर्लोकमें भी क्षेत्रके स्वभावसे जीव शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका आचरण नहिं कर सकते ॥ १३ ॥

नरलोकेपि ये जाता नराः कर्मवशाद् घनाः ।
भोगभूम्लेच्छखंडेषु ते भवंति न तादृशाः ॥ १४ ॥

अर्थ—मनुष्य क्षेत्रमें भी जो जीव भोगभूमि और म्लेच्छखंडमें उत्पन्न हुये हैं उन्हें भी सघनरूपसे कर्मोंद्वारा जिकड़े हुये होनेके कारण शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका आचरण करनेका अवसर प्राप्त नहिं होता ॥ १४ ॥

आर्यखंडभवाः केचिद् विरलाः संति तादृशाः ।
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः स्युरद्य न कदापि वा ॥ १५ ॥

अर्थ—परंतु जो जीव आर्यखंडमें उत्पन्न हुये हैं उनमेंसे भी विरले ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके पालक होते हैं तथा इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले तो इससमय दो तीन ही हैं अथवा हैं ही नहीं ॥ १५ ॥

अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिकाः ।

सम्यक्त्वसहितास्तत्र तत्राणुव्रतधारिणः ॥ १६ ॥
महाव्रतधरा धीराः संति चात्यंतदुर्लभाः ।
तत्त्वातत्त्वविदस्तेषु चिद्रक्तोत्यंतदुर्लभः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस क्षेत्रमें प्रथम तो इससमय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी ही विरले हैं यदि वे भी मिलजांय तो अणुव्रत धारी मिलने कठिन हैं अणुव्रत धारी भी हों तो धीरवीर महाव्रतधारी दुर्लभ हैं यदि वे भी हों तो तत्त्व अतत्त्वोंके जानकार वहुत कम हैं यदि वे भी प्राप्त होजांय तो शुद्धचिद्रूपमें रत मनुष्य अत्यंत दुर्लभ हैं। भावार्थ—इससंसारमें सदा अनंते जीव निवास करते रहते हैं उनमें जिनवचन और जिनेंद्रदेवके श्रद्धानी पाक्षिक मनुष्य वहुत कम हैं उनसे भी कम अणुव्रतोंके पालक हैं उनसे भी कम धीरवीर महाव्रती हैं। महाव्रतियोंसे कम तत्त्व अतत्त्वोंके जानकार हैं। और उनसे भी कम चिद्रूपके प्रेमी हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्तिको अतिदुर्लभ मान उसीका ध्यान करें ॥ १६ ॥ १७ ॥

तपस्विपात्रविद्वत्सु गुणिसद्वातिगामिषु ।
वंद्यस्तुत्येषु विज्ञेयः स एवोत्कृष्टतां गतः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुरक्त हैं वे ही तपस्वी उत्तमपात्र विद्वान गुणी समीचीन मार्गके अनुगामी और उत्तम वंदनीक स्तुत्य मनुष्योंमें उत्कृष्ट हैं ॥ १८ ॥

उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यंतवर्जिते स्तोकाः ।
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता भवंति केचित्कदाचिच्च ॥ १९ ॥

अर्थ—इस अनादि अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके धारक बहुत ही कम मनुष्य होते हैं और वे भी कभी किसी समय, प्रतिसमय नहीं। भावार्थ—जिसमें मनुष्योंकी आयु बल वीर्य आदि वृद्धिंगत हों वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें आयु आदिकी कमताई होती जाय उसै अवसर्पिणी काल कहते हैं यह जो कालका अनादि अनंत प्रवाह है उसमें कभी किसी समय शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके पालक मनुष्य दृष्टि गोचर होते हैं प्रति समय नहीं तथा वे भी बहुत कम अधिक नहीं ॥१९॥

मिथ्यात्वादिगुणस्थानचतुष्के संभवंति न ।
शुद्धचिद्रूपके रक्ता व्रतिनोऽपि कदाचन ॥ २० ॥
पंचमादिगुणस्थानदशके तादृशोंऽगिनः ।

स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेयं स्तोकजीवसमाश्रिते ॥ २१ ॥

अर्थ— मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान पर्यंत जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती नहिं हो सकते किंतु देशविरत पंचम गुणस्थानसे लेकर अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थन पर्यंतके जीव ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती होते हैं इसलिये शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोंका ज्ञान बहुत थोड़े जीवोंमें हैं। भावार्थ–मिथ्यात्व सासादन मिश्र अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरतको आदि लेकर अयोग केवलीपर्यंत चौदह गुणस्थान हैं उनमें आदिके चार गुणस्थानवर्ती जीवोंके न तो शुद्धचिद्रूपमें लीनता हो सकती है और न वे किसीप्रकारके व्रतही पाल सकते हैं क्योंकि चौथे गुणस्थानमें आकर केवल श्रद्धान ही होता है परंतु पांचवेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव व्रती और शुद्धचिद्रूपके ध्यानी होते हैं इसलिये शुद्धचिद्रूपके प्रेमी और व्रती मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे

रक्षाश्च प्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपासक्तो विरल इति प्रतिपादक एकादशोऽध्यायः ।११।

अर्थ–इस संसारमें कोई मनुष्य तो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोंमें अनुरक्त हैं, और बहुतसे छोटा भाई, पुत्र पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गांव, घर, इंद्रियोंके भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजकार्य, खाने योग्य पदार्थ, शरीर, वन, व्यसन, खेती, कूआ, बावड़ी, और तालावोंमें प्रेम करनेवाले हैं, और बहुतसे अन्य मनुष्योंके इधर उधर भेजनेमें, यश और पशु गणोंकी रक्षा करनेमें अनुराग करने वाले हैं परंतु शुद्धचिद्रूपका अनुरागी कोई भी मनुष्य नहीं है। भावार्थ-संसारमें मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके हैं और उन्हें प्रीति उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोंको ही प्रिय और उत्तम मानते हैं। बहुतोंको छोटे भाई, पुत्र पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गांव, घर, इंद्रियोंके भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजाके कार्य, खानेयोग्य पदार्थ, वन, व्यसन, खेती, कूप और तालाब अतिप्यारे लगते हैं। बहुतसे भृत्योंको जहां तहां भेजना यशप्राप्ति और पशुगणोंकी रक्षाको ही अतिप्रिय मानते हैं परंतु शुद्धचिद्रूपमें किसीका भी प्रेम नहीं है इसलिये बाह्य पदार्थोंमें व्यर्थ मुग्ध होकर आत्मिक शुद्धचिद्रूपकी ओर जरा भी ध्यान नहिं देते ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा निर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें "शुद्धचिद्रूपके प्रेमी विरले ही है" इस बातको प्रतिपादन करनेवाला ग्यारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

बारहवां अध्याय ।

रत्नत्रयोपलंभेन विना शुद्धचिदात्मनः ।
प्रादुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे ॥ १ ॥

अर्थ—जैनशास्त्रसे यह बात जानी गई है कि विना रत्नत्रयको प्राप्त किये आज तक किसी भी जीवको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति न हुई सबको रत्नत्रयके लाभके बाद ही हुई है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आत्माके गुणोंको रत्नत्रय कहते हैं और ये तीनों शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण हैं, इसलिये विना रत्नत्रयके लाभके किसीको भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं हो सकती। जिन्हें भी उसकी प्राप्ति हुई है उन्हें प्रथम रत्नत्रयकी प्राप्ति होगई है और उसकेबाद शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है ॥ १ ॥

विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूपं न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥ २ ॥

अर्थ—विना शुद्धचिद्रूपको प्राप्त किये आजतक किसी मनुष्यने कहीं और कभी भी किसी दूसरे उपायसे शुद्धचिद्रूपको प्राप्त न किया, सबोंने पहिले रत्नत्रयको पाकर ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति की है ॥ २ ॥

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते।
यथर्द्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्वलाहकात् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार तपके विना ऋद्धि, पिताके विना पुत्री और मेघके विना वर्षा नहिं हो सकती उसीप्रकार विना रत्नत्रयकी प्राप्तिके शुद्धचिद्रूपकी भी प्राप्ति नहिं हो सकती। भावार्थ–जिसप्रकार ऋद्धिकी प्राप्तिमें तप, पुत्रीकी उत्पत्तिमें पिता और वर्षाकी उत्पत्तिमें मेघ असाधारण (निमित्त) कारण हैं। विना तप आदिके ऋद्धिआदिकी प्राप्ति नहिं होसकती उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है। विना इसे प्राप्त किये शुद्धचिद्रूपका लाभ नहिं हो सकता ॥ ३ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥ ४ ॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वरने एकसाथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्माकी प्रवृत्तिको रत्नत्रय कहा है। भावार्थ–गुण गुणीसे कभी भिन्न नहिं हो सकते इसलिये जितने गुण हैं वे अपने गुणियोंके स्वरूप हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी आत्माके गुण हैं। न कभी ये आत्मासे जुदे रह सकते हैं

और न सिवाय आत्माके किसी पदार्थमें ही पाये जाते हैं। हां यह बात अवश्य है कि विरोधी कर्मोंकी मौजूदगी में ये प्रच्छन्न रूपसे रहते हैं। परंतु जिससमय इनके विरोधी कर्म नष्ट हो जाते हैं और ये तीनों एक साथ आत्मामें प्रकट हो जाते हैं उसी समयकी अवस्थाको रत्नत्रयकी प्राप्ति कहते हैं और यह रत्नत्रयकी प्राप्ति ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है ॥ ४ ॥

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्विधा तत्परिकीर्त्तितं।
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है और व्यवहार रत्नत्रयके होते ही निश्चय रत्नत्रयकी प्रकटता होती है। भावार्थ-जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान, ज्ञान और 'कर्मोंके नष्ट करनेके लिये तप आदि करना' चारित्र, यह तो व्यवहार रत्नत्रय है और निश्चय रत्नत्रय आत्मस्वरूप है परंतु विना व्यवहार रत्नत्रयके निश्चय रत्नत्रय कभी प्राप्त नहिं हो सकता इसलिये निश्चय रत्नत्रयमें व्यवहार रत्नत्रय कारण है ॥ ५ ॥

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः।
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ॥ ६ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और इसके आठ अंग हैं तथा यह औपशमिक क्षायिक एवं क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है। भावार्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें-भगवान जिनेंद्रने जो इनका स्वरूप बतलाया है वह उसीप्रकारसे है अन्यथा नहीं इसप्रकारका श्रद्धान-विश्वास रखना व्यवहार सम्यग्दर्शन है इसके निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना ये आठ अंग हैं और औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥ ६ ॥

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोंका विश्वास करता है अनेकांत रूपसे समस्त वचनोंको बोलता है और जिसको यह श्रद्धान है कि समस्त जगत् ज्ञानसे व्याप्त है वह सम्यग्दृष्टि है। भावार्थ—मेरु आदि पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें नेत्रसे नहिं देख सकते और सर्वज्ञके वचनसे उनके अस्तित्वका निश्चयकर उनकी मोजूदगी का श्रद्धान करना पड़ता है इसलिये जिस महानुभावको मेरु आदिके अस्तित्वसे उनके मोजूदगीका श्रद्धान है। वचनोंमें किसीप्रकारका विरोध न आजाय इसलिये जो अनेकांतवादपर पूर्ण विश्वासकर उसकी सहायतासे वचन

श्रोलता है और यह समस्त जगत ज्ञानके गोचर है-इसके मध्यमें रहनेवाले पदार्थ ज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे जाने जा सकते हैं ऐसा जिसको पूर्ण श्रद्धान है वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥ ७ ॥

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनं ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें जो रुचि करना है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और यह कर्मरूपी ईंधनके लिये जाज्वल्यमान अग्नि है-निश्चय सम्यग्दर्शनके आश्रयसे समस्त कर्म जलकर खाक हो जाते हैं ॥ ८ ॥

यदि शुद्धं चिद्रूपं निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत् ।
जानन् पश्यन् पश्यति तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो जीव तीनकालमें रहनेवाले आत्मिक शुद्ध समस्त चिद्रूपको एक साथ जानता देखता है वास्तविकदृष्टिसे वही सम्यग्दृष्टि है। भावार्थ–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समस्तपदार्थ परिवर्तनशील हैं। प्रतिक्षण सबकी पर्यायें बदलतीं रहतीं हैं। आत्माकी भी ज्ञान दर्शन आदि चेतनाओंका प्रतिसमय परिवर्तन हुआ करता है। इस लिये जो जीव त्रिकालवर्ती अपने समस्त शुद्धचिद्रूपको एकसाथ जानता देखता है वास्तवमें वही सम्यग्दृष्टि है ॥

ज्ञात्वाष्टांगानि तस्यापि भाषितानि जिनागमे।
तैरमा धार्यते तद्धि मुक्तिसौख्याभिलाषिणा ॥ १० ॥

अर्थ—जो महानुभाव मोक्षसुखके अभिलाषी हैं मोक्षकी प्राप्तिसे ही अपना कल्याण समझते हैं वे जैनशास्त्रमें वर्णन किये गये सम्यग्दर्शनको उसके आठ अंगोंके साथ धारण करते हैं। भावार्थ--तत्त्वोंका स्वरूप यही है और ऐसा ही है भगवान जिनेंद्रने जो कुछ उनके विषयमें कहा है उससे अन्यथा नहिं हो सकता-इसप्रकार जैन शास्त्र और जिन भगवानमें जो गाढ़ रुचि रखना है वह निश्शंकितांग है। देव और मनुष्यभवके सुखको पापका कारण जान उसके लिये लालसा प्रकट न करना निष्कांक्षितअंग है। महा अपवित्र इस शरीरसे निकलते हुये रुधिर आदिको देखकर ग्लानि न करना, दूसरोंको रुग्ण देख उनसे मुख न मोड़ना निर्विचिकित्सित अंग है। मिथ्यामार्ग व उनके भक्तोंसे किसीप्रकारका धार्मिक संबंध न रखना उनके मिथ्यात्वकी अपने मुखसे प्रशंसा न करना अमूढ़दृष्टि अंग है। यदि कोई अज्ञानी पवित्र जैन मार्गकी निंदा करै तो उसके दूर करनेका उपाय करना उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन आदिसे विचलित मनुष्यको पुनः सम्यग्दर्शन आदिमें दृढ कर देना स्थितिकरण अंग है। सहधर्मी भाइयोंमें गौ वच्छरेके समान प्रीति रखना वात्सल्य अंग है और जैनमार्गके अतिशय प्रकट करनेके लिये विद्यालय खोलना आदि उपाय करना प्रभावना अंग है-जो महानुभाव इन आठों अंगोंके साथ साथ सम्यग्दर्शन धारण करता है उसे मोक्षकी अवश्य प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

अष्टधाचारसंयुक्तं ज्ञानमुक्तं जिनेशिना।
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासो भवेद् यतः ॥ ११ ॥
स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥ १२ ॥

अर्थ—भगवान जिनेंद्रने व्यवहारनयसे आठप्रकारके आचारोंसे युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थोंका भलेप्रकार प्रतिभास होता है परंतु जिससे स्वस्वरूपका ज्ञान हो जो शुद्धचिद्रूपको जाने वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान समस्त कर्मोंका नाशक है और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमें परम कारण है इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजे भवेत्तत्त्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्बाहिरंतरसंगमुक्तस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—मोहके सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित पुरुषका जो आत्मिक शुद्धचिद्रूपका अनुभव करना है वही वास्तविकरूपसे परम ज्ञान है ॥ १३ ॥

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ॥ १४ ॥

अर्थ--जहांपर सावद्य हिंसाके कारण रूप-पदार्थोंसे निवृत्ति और शुभ कार्यमें प्रवृत्ति हो उसे व्यवहार चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकारका है। भावार्थ–अशुभकार्यसे निवृत्ति और शुभकार्यमें प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र है और वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह ये पांचप्रकारके व्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच समितियां एवं वाग्गुप्ति कायगुप्ति और मनोगुप्ति, ये तीन प्रकारकी गुप्तियां इसतरह तेरह प्रकारका है ॥ १४ ॥

मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुनेः ।
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं तच्चारित्रं न चापरं ॥ १५ ॥

अर्थ--सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ जो मूल और उत्तर गुणोंका पालन करना है वह चारित्र है अन्य नहीं तथा यही चारित्र मोक्षका कारण है ॥ १५ ॥

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।

य: स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ॥ १६ ॥

अर्थ— बाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्यागकर, नग्नमुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका धारक होकर जो शुद्धचिद्रूपका स्मरण करता है उसीके उत्तम चारित्र होता है ॥ १६ ॥

ज्ञप्त्या दृष्ट्या युतं सम्यक्चारित्रं तन्निरुच्यते ।
सतां सेव्यं जगत्पूज्यं स्वर्गादिसुखसाधनं ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही सम्यक्चारित्र सज्जनोंको आचरणीय है और वह ही समस्त संसारमें पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखोंको प्राप्त करानेवाला है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ऐसे कारण हैं कि इनमें एक भी कम जानेपर मोक्षसुख नहिं मिल सकता। यदि चाहैं कि विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके केवल सम्यक्चारित्रसे ही मोक्षसुख मिल जाय तो यह कभी नहिं हो सकता, किंतु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकेसाथ रहनेवाले सम्यक्चारित्रसे ही मोक्षसुख मिलसकता है इसलिये ऐसा चारित्र ही सज्जनोंका परम आदरणीय और जगत्पूज्य है ॥ १७ ॥

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरत्यंतानिश्चला ।

तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥ १८ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धस्वरूपमें जो निश्चलरूपसे स्थिति है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं और इस चारित्रकी प्राप्तिसे समस्त कर्मोंका अवश्य ही नाश हो जाता है-अर्थात् निश्चयचारित्रके प्राप्त होते ही जीव समस्त कर्मोंका नाशकर सिद्धशिलापर जा विराजते हैं ॥ १८ ॥

यदि चिद्रूपे शुद्धे स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात्।
परद्रव्यस्यास्मरणं शुद्धनयादंगिनो वृत्तं ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि इस जीवकी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति हो जाय और पर पदार्थोंसे सर्वथा प्रेम हटजाय, तो उसीको शुद्धनिश्चयनयसे चारित्र समझना चाहिये। भावार्थ—जबतक शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति नहीं होती और परपदार्थोंसे प्रेम नहिं हटता, तबतक कदापि निश्चयचारित्रकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके अभिलाषी विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति करै और परपदार्थोंसे प्रेम हटावें ॥ १९ ॥

रत्नत्रयं किल ज्ञेयं व्यवहारं तु साधनं।

सद्भिश्च निश्चयं साध्यं मुनीनां सद्विभूषणं ॥ २० ॥

अर्थ—निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्तिमें व्यवहाररत्नत्रय साधन-(कारण) है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है तथा यह निश्चयरत्नत्रय मुनियोंका उत्तम भूषण है ॥ २० ॥

रत्नत्रयं परं ज्ञेयं व्यवहारं च निश्चयं ।
निदानं शुद्धचिद्रूपस्वरूपात्मोपलब्धये ॥ २१ ॥

अर्थ—यह व्यवहार और निश्चय दोनोंप्रकारका रत्नत्रय शुद्धचिद्रूपके स्वरूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण है। विना दोनों प्रकारके रत्नत्रयको प्राप्त किये कदापि शुद्धचिद्रूपके स्वरूपका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ २१ ॥

स्वशुद्धचिद्रूपपरोपलब्धिः कस्यापि रत्नत्रयमंतरेण ।
क्वचित्कदाचन्न च निश्चयो यद् दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्वदैव ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्यै रत्नत्रयप्रतिपादको द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति विना रत्नत्रयके आजतक कभी और किसी देशमें नहिं हुई। सबको रत्न-

त्रयकी प्राप्तिके अनतर ही शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है यह मेरी आत्मामें दृढ़रूपसे निश्चय है ॥ २२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूपणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरागिणीमें 'शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है' इसवातको बतलानेवाला बारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

तेरहवां अध्याय ।

विशुद्धं वसनं श्लाघ्यं रत्नं रूप्यं च कांचनं ।
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ॥ १ ॥

अर्थ—जिसप्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चांदी, सोना, पात्र और भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशस्य गिने जाते हैं उसीप्रकार यह शुद्धचिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशस्य है ॥ १ ॥

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनांशेन विशुद्धता ॥ २ ॥

अर्थ—पुरुषमें राग द्वेष आदि लक्षणका धारक संक्लेश, अशुद्धपना कहा जाता है और जितने अंशमें राग

द्वेष आदिका नाश हो जाता है उतने अंशमें विशुद्धपना कहा जाता है। भावार्थ-यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है परंतु राग द्वेष आदिके संबंधसे अशुद्ध होजाता है; किंतु जितने अंशमें राग द्वेष आदि नष्ट होते जाते हैं उतने अंशमें यह शुद्ध होता चला जाता है ॥ २ ॥

येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपाद्याति वेगतः ।
विशुद्धिरेति चिद्रूपे स विधेयो मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जीव मोक्षाभिलाषी हैं-अपनी आत्माको समस्त कर्मोंसे रहित करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि जिस उपायसे यह संक्लेश दूर हो विशुद्धपना आवे वह उपाय अवश्य करै ॥ ३ ॥

सत्पूज्यानां स्तुतिनातियजनं षट्कमावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै ॥ ४ ॥

णर्थ—जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं उनकी स्तुति ,नमस्कार और पूजन करना, सामायिक प्रतिक्रमण आदि

छै प्रकारके आवश्यकोंका आचरण करना, सम्यक्चारित्रका दृढ़रूपसे धारण करना, उत्तम तप और तीर्थयात्रा
करना, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना और क्रोध मान माया आदि कषायोंको उत्पन्न न होने
देना आदि विशुद्धिके कारण हैं, विना इन वातोंके आचरण किये विशुद्धि नहिं हो सकती। भावार्थ-उत्तम मुनि आदि
महापुरुषोंकी विनय आदि करनेसे, सामायिक आदि आवश्यकोंके आचरणसे, सम्यक्चारित्रके पालनसे, उत्तम तप,
तीर्थयात्राके करनेमे, परिग्रहोंके त्यागसे, और क्रोध आदि कषायोंके न उत्पन्न होनेदेनेसे कर्मोंका नाश होता है
और कर्मोंके नाशसे आत्मामें विशुद्धपना आता है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्माकी विशुद्धताके अभिलाषी हैं
उन्हें चाहिये कि वे उपर्युक्त वातोंपर अवश्य ध्यान दें और अपनी आत्माको शुद्ध वनावें ॥ ४ ॥

रागादिविक्रिया दृष्ट्वांगिनां क्षोभादि मा व्रज ।
भवे तदितरं किं स्यात् स्वच्छं शिवपदं स्मर ॥ ५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! मनुष्योंमें रागद्वेष आदिका विकार देख तुझे किसीप्रकार क्षोभ न करना चाहिये
क्योंकि संसारमें सिवाय राग आदिके विकारके और होना ही क्या है! इसलिये तू अतिशय विशुद्ध मोक्षमार्ग
का ही स्मरण कर। भावार्थ-प्रायः संसारमें यह वात प्रत्यक्षगोचर होती है कि कहीं रागके संवंधसे नानाप्रकार-
के विकार देखनेमें आते हैं और कहीं द्वेप और मोहके संवंधसे, परंतु रागद्वेष आदिका विकार देख किसीप्रकार

क्षोभ न करना चाहिये क्योंकि इसका नाम संसार है और इसमें राग द्वेषके विकारोंके सिवाय उत्तम बात होनी कठिन है इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू रागद्वेष आदिके विकारोंसे रहित होना चाहता है; तो तू मोक्षमार्गका स्मरणकर उसीसे तेरा कल्याण होगा ॥ ५ ॥

विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहितः
सरोगो निःस्वो वा विमतिरगुणः शक्तिविकलः ॥
सदा दोषी निंद्योऽगुरुविधिरकर्मा हि वचनं
वदन्नंगी सोयं भवति भुवि वैशुद्ध्यसुखभाग् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीव यह कहता रहता है कि मैं मोहके जालमें फसकर बुद्धिशून्य होगया हूं, ज्ञानरहित, रोगी, निर्धनी, पागल, अगुणी, शक्तिरहित, दोषी, निंदनीक, हीन क्रियाओंका आचरण करनेवाला, अकर्मण्य-आलसी होगया हूं, वही जीव विशुद्धताके सुखका अनुभव करता है अन्य नहीं। भावार्थ—जो मनुष्य सदा अपनेको ऊंचा और प्रतिष्ठित समझता रहता है उसकी आत्मा विशुद्धताका अनुभव नहिं करसकती; किंतु जो संसारके चरित्रको जानकर शरीर और आत्माका भेद पहिचानकर 'मैं मूढ़ हूं ज्ञानरहित रोगी और निर्धन आदि हूं' ऐसा विचार करता रहता है वही विशुद्धताका अनुभव कर सकता है ॥ ६ ॥

राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात्
दोषोद्भूतेरकीर्तेः सततमतिभयं रैनृगोमंदिरस्य ॥
चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहिणां तेन तेषां विशुद्धं
चिद्रूपध्यानरत्नं श्रुतिजलधिभवं प्रायशो दुर्लभं स्यात्॥ ७ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंको राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, वैरी, अतिवृष्टि अनावृष्टि आादि ईति, मृत्यु, रोग, दोष और अकीर्तिसे सदा भय बना रहता है। धन कुटुंबी मनुष्य गाय और महलकी चितायें लगी रहती हैं एवं उनके नाशसे शोक होता रहता है इसलिये उन्हें शास्त्ररूपी अगाधसमुद्रसे उत्पन्न, शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होना नितांत दुर्लभ है। भावार्थ—भयभीत मनुष्य अगाधसमुद्रसे जिसप्रकार सहसा रत्न प्राप्त नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल आदिसे भय करनेवाला है धन धान्य गौ महल आदिकी चिंता और उसके नाशसे शोकाकुल रहता है वह कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नहिं कर सकता ॥ ७ ॥

पठने गमने संगे चेतनेऽचेतनेऽपि च।
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा चिंता हेया विशुद्धये ॥ ८ ॥

अर्थ—जो महानुभाव विशुद्धताका आकांक्षी है अपनी आत्माको निष्कलंक बनाना चाहता है उसै चाहिये कि वह पढ़ने, गमन करने, चेतन अचेतन दोनोंप्रकारके परिग्रह धारने और किसी अन्य कार्यके करनेमें किसीप्रकारकी चिंता न करै-अर्थात् अन्य पदार्थोंकी चिंता करनेसे आत्मा विशुद्ध नहिं बन सकती ॥ ८ ॥

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णवः ।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनं ॥ ९ ॥

अर्थ—आचारांग सूत्रकृतांग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्धचिद्रूपका अंश है इसलिये यदि शुद्धचिद्रूप प्राप्त होगया है तो मुझै द्वादशांगसे क्या प्रयोजन ! वह तो प्राप्त हो ही गया। भावार्थ–द्वादशांगकी प्राप्ति संसारमें अतिशय दुर्लभ है परंतु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होते ही उसकी प्राप्ति आपसे आप होजाती है क्योंकि वह शुद्धचिद्रूपका अंश है इसलिये कल्याणके आकांक्षी जीवोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी ही प्राप्ति करैं द्वादशांग आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपके लाभका ही प्रयत्न करै ॥ ९ ॥

शुद्धचिद्रूपके लब्धे कर्तव्यं किंचिदस्ति न ।
अन्यकार्यकृतौ चिंता वृथा मे मोहसंभवा ॥ १० ॥

अर्थ—मुझे संसारमें शुद्धचिद्रूपका लाभ होगया है इसलिये कोई कार्य मुझे करनेके लिये अवशिष्ट न रहा सब करचुका तथा शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होजानेपर अन्यकार्योंके लिये मुझे चिंता करना भी व्यर्थ है क्योंकि यह मोहसे होती है-अर्थात् मोहसे उत्पन्न हुई चिंतासे मेरा कदापि कल्याण नहिं हो सकता ॥ १० ॥

वपुषां कर्मणां कर्महेतूनां चिंतनं यदा।
तदा क्लेशो विशुद्धिः स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ ११ ॥

अर्थ—शरीर कर्म और कर्मके कारणोंका चिंतवन करना क्लेश है अर्थात् उनके चिंतवनसे आत्मामें क्लेश उत्पन्न होता है और शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे विशुद्धि होती है ॥ ११ ॥

गृही यतिर्न यो वेत्ति शुद्धचिद्रूपलक्षणं।
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरं ॥ १२ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ वा मुनि शुद्धचिद्रूपका स्वरूप नहिं जानता उसकेलिये पंचपरमेष्ठीके मंत्रोंका स्मरण करना ही कार्यकारी है उसीसे उसका कल्याण होसकता है ॥ १२ ॥

संक्लेशस्य विशुद्धेश्च फलं ज्ञात्वा परीक्षणं।

तं त्यजेत्तां भजत्यंगी योऽत्रामुत्र सुखी स हि ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धिके फलको परीक्षापूर्वक जानकर संक्लेशको छोड़ता है और विशुद्धिका सेवन करता है उस मनुष्यको इसलोक, परलोक दोनो लोकोंमें सुख मिलता है ॥ १३ ॥

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां
विशुद्धौ मोचनं तेषां बंधो वा शुभकर्मणां ॥ १४ ॥

अर्थ—क्योंकि संक्लेशके होनेसे अत्यत दुःखदायी अशुभ कर्मोंका आत्माके साथ संबंध होता है और विशुद्धताकी प्राप्तिसे इन अशुभकर्मोंका संबंध छूटता है तथा शुभकर्मोंका संबंध होता है । भावार्थ–जब तक यह आत्मा विशुद्ध नहिं होता संक्लेशमय रहता है तब तक इसके साथ नाना प्रकारके अशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है और उससे इसै अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं; परंतु जिस समय यह आत्मा विशुद्धताका अनुभव करने लग जाता है उससमय इससे अशुभ कर्मोंका संबंध छूट जाता है और सुखदायक शुभकर्मोंका संबंध होने लगता है इसलिये दुःखदायक संक्लेशको छोड़कर सुखदायक चिद्रूपकी शुद्धिकाही आश्रय करना योग्य है ॥१४॥

विशुद्धेः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं मुख्यकारणं ।

संक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितं ॥ १५ ॥

अर्थ--यह विशुद्धि शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें मुख्य कारण है-इसीसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होती है। और संक्लेश शुद्धचिद्रूपके ध्यानका विघातक है, जबतक आत्मामें किसीप्रकारका संक्लेश रहता है तबतक शुद्धचिद्रूपका ध्यान कदापि नहिं हो सकता ॥ १५ ॥

अमृतं च विशुद्धिः स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितं ।
अत्यंतसेवने कष्टमन्यस्यास्य परं सुखं ॥ १६ ॥

अर्थ--संसारमें लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं-अथवा जिस किसी पदार्थको लोग अमृत बतलाते है, वह पदार्थ वास्तवमें अमृत नहीं है वास्तविक अमृत तो विशुद्धि ही है। क्योंकि लोककथित अमृतके अधिक सेवन करनेसे तो कष्ट भोगना पड़ता है, और विशुद्धिरूपी अमृतके अधिक सेवन करनेपर भी अनुपम सुख ही मिलता है, किसीप्रकारका भी कष्ट नहीं भोगना पड़ता; इसलिये जिससे सब अवस्थाओंमें सुखमिले वही अमृत सच्चा है ॥ १६ ॥

विशुद्धिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।

विमुच्यानुपमं राज्यं खसुखानि धनानि च ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विशुद्धताके भक्त हैं, अपनी आत्माको विशुद्ध बनाना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धिके लिये पर्वतकी गुफाओंमें निवास करते हैं तथा अनुपम राज्य, इंद्रियसुख, और संपत्तिका सर्वथा त्याग करदेते हैं-राज्य आदिकी ओर जरा भी चित्तको भटकने नहिं देते ॥ १७ ॥

विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात् स्थितिस्तस्या विशुद्धता ।
तयोरन्योन्यहेतुत्वमनुभूय प्रतीयतां ॥ १८ ॥

अर्थ—विशुद्धि होनेसे शुद्धचिद्रूपमें स्थिति होती है और विशुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति करनेसे विशुद्धि होती है इसलिये इन दोनोंको आपसमें एक दूसरेका कारण जानकर इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिये । भावार्थ—जब तक विशुद्धता नहिं होती तबतक शुद्धचिद्रूपमें स्थिति नहिं हो सकती; और जबतक शुद्धचिद्रूपमें स्थिति नहिं होती तबतक विशुद्धता नहिं आसकती इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि इनमें एक दूसरेको आपसमें कारण जानकर इन दोनोंके स्वरूपको जाननेकेलिये पूर्ण उद्यम करैं ॥ १८ ॥

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।

परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥ १९ ॥
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥ २० ॥

अर्थ---यह विशुद्धि ही संसारमें परम धर्म है यही जीवोंको सुखका देनेवाला, उत्तम चारित्र, और मोक्षका मार्ग है इसलिये जो मुनिगण विद्वान हैं-जड़ और चेतनके स्वरूपके वास्तविक जानकार हैं उन्हें चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे प्रयत्नपूर्वक विशुद्धिकी प्राप्ति करें। भावार्थ--विना शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके विशुद्धिकी प्राप्ति होना असंभव है इसलिये विद्वान मुनिगणोंको इसकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करना चाहिये क्योंकि यह विशुद्धि ही संसारमें परम धर्म, सुखके देनेवाली, उत्तम चारित्र और मोक्षका मार्ग है ॥१९॥२०॥

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥ २१ ॥

अर्थ---जब तक मुनिगण वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका सर्वथा नाश नहिं करदेते तब तक उनके चिद्रूपमें विशुद्धपना नहिं आ सकता। भावार्थ--स्त्री पुत्र आदिको अपनाना वाह्य परिग्रह है और रागद्वेष आदिको

अपनाना अभ्यंतर परिग्रह है जबतक इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें ममता लगी रहती है, तबतक चिद्रूप विशुद्ध नहिं हो सकता, परंतु ज्यों २ बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे ममता छूटती जाती है त्यों २ चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है इसलिये जो मुनिगण विशुद्धचिद्रूपके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे सर्वथा ममता छोड़ दें ॥ २१ ॥

विशुद्धिनावमेवात्र श्रयंतु भवसागरे।
मज्जंतो निखिला भव्या बहुना भाषितेन किं ॥ २२ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि- इस विषयमें विशेष कहनेसे क्या प्रयोजन ? प्रियभव्यो ! अनादि कालसे आप लोग इस संसाररूपी सागरमें गोता खा रहे हैं, अब आप इस विशुद्धिरूपी नौकाका आश्रय लेकर संसारसे पार होनेके लिये पूर्ण उद्यम कीजिये ॥ २२ ॥

आदेशोऽयं सद्गुरूणां रहस्यं सिद्धांतानामेतदेवाखिलानां।
कर्तव्यानां मुख्यकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः ॥ २३ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै विशुद्धयानयनविधिप्रतिपादकस्त्रयोदशोऽध्यायः

अर्थ—अपने चित्स्वरूपमें विशुद्धि प्राप्त करना यही उत्तम गुरुओंका उपदेश है समस्त सिद्धांतोंका रहस्य, और समस्त कर्तव्योंमें मुख्य कर्तव्य है। भावार्थ–चिद्रूपको विना विशुद्ध किये किसीप्रकारका कल्याण नहिं हो सकता इसलिये यही उत्तम गुरुओंका उपदेश समस्त सिद्धांतोंका रहस्य और कर्तव्योंमें मुख्य कर्तव्य है कि चिद्रूपमें विशुद्धि प्राप्त करो ॥ २३ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये विशुद्धिकी प्राप्तिका उपाय प्रतिपादन करनेवाला तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



चौदहवां अध्याय ।

नीहाराहारपानं खमदनविजयं स्वापमौनासनं च
यानं शीलं तपांसि व्रतमपि कलयन्नागमं संयमं च ॥
दानं गानं जिनानां नुतिनतिजपनं मंदिरं चाभिषेकं
यात्रार्चे मूर्तिमेवं कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहं ॥ १ ॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष जिसप्रकार नीहार (मलमूत्रका त्याग करना) खाना पीना, इंद्रिय और कामका विजय, सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान, भगवानकी स्तुति, प्रणाम, जप, मंदिर, अभिषेक, तीर्थयात्रा, पूजन और प्रतिमाओंके निर्माण आदि करनेको आवश्यक कार्य समझते हैं उसीप्रकार मैं शुद्ध-चिद्रूप स्वरूप हूं ऐसा समझनेको भी आवश्यक कार्य मानते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार बुद्धिमान पुरुषोंको मलमूत्र त्याग, खाना, पीना, इंद्रिय और कामका विजय, मौन, आसन, गमन, शील, तप व्रत आदि कार्य करने पड़ते हैं विना इन्हें किये उनका काम नहिं चलसकता उसीप्रकार 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' इसप्रकारके विना ध्यानके भी उनका कार्य नहीं चलसकता इसलिये उन्हें शुद्धचिद्रूपका भी अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ १ ॥.

कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं खजयजपतपोऽध्यापनं साधुसेवां
दानौघान्योपकारं यमनियमधरं स्वापशीलं दधानः ।
उद्भीभावं च मौनं व्रतसमितितर्तिं पालयन् संयमौघं
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापरः स्वर्गभाक् च ॥ २ ॥

अर्थ—जो मनुष्य तीर्थयात्रा, भगवानकी पूजन, इंद्रियोंका जय, जप, तप, अध्यापन (पढाना) साधुओंकी

सेवा, दान, अन्यका उपकार, यम, नियम, शील, भयका अभाव, मौन, व्रत और समितिका पालन एवं संयमका आ-
चरण करता हुआ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें रक्त है उसे तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और उससे अन्य अर्थात् जो शुद्ध-
चिद्रूपका ध्यान न कर तीर्थयात्रा आदिका ही करनेवाला है उसे नियमसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—
तीर्थयात्रा भगवानकी पूजन इंद्रियोंका जय, जप, तप, अध्यापन, साधुओंकी सेवा, आदि कार्य सर्वदा शुभ हैं
यदि इनके साथ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुराग किया जाय तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और शुद्धचिद्रूपका ध्यान
न कर केवल तीर्थयात्रा आदिका ही आचरण किया जाय तब स्वर्ग सुख मिलता है इसलिये उत्तम पुरुषोंको
चाहिये कि वे मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानके साथ तीर्थयात्रा आदिका अवश्य आचरण करैं
यदि वे शुद्धचिद्रूपका ध्यान न भी कर सकैं तो तीर्थयात्रा भगवानकी पूजन आदि कार्य तो अवश्य करने चाहिये
क्योंकि इनके आचरण करनेसे भी स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

चित्तं निधाय चिद्रूपे कुर्याद् वागंगचेष्टितं ।
सुधीर्निरंतरं कुंभे यथा पानीयहारिणी ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विद्वान हैं-संसारके संतापसे रहित होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे घड़ेमें पनिहारीके
समान शुद्धचिद्रूपमें अपना चित्त स्थिरकर वचन और शरीरकी चेष्टा करैं। भावार्थ—जिसप्रकार पनिहारी जलसे भरे

हुये घड़ेमें अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीरकी चेष्टा करती है उसीप्रकार जो मनुष्य संसारके संतापसे खिन्न हैं और उससे रहित होना चाहते हैं उन्हें भी चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमें अपना मन स्थिरकर-उसकी प्राप्तिके लिये वचन और शरीरका व्यापार करैं क्योंकि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे समस्त संतापका नाश होता है और शांतिमय सुख मिलता है ॥ ३ ॥

वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य संगं हित्वा द्विधा ततः ।
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य ततः स्वीकृत्य संयमं ॥ ४ ॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि निर्जने निरुपद्रवे ।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचिंतां धृत्वा शुभासनं ॥ ५ ॥
पदस्थादिकमभ्यस्य कृत्वा साम्यावलंबनं ।
मानसं निश्चलीकृत्य स्वं चिद्रूपं स्मरंति ये ॥ ६ ॥ त्रिकलं ॥
पापानि प्रलयं यांति तेषामभ्युदयप्रदः ।
धर्मो विवर्द्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते ॥ ७ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मनसे वचनसे और कायसे वैराग्यको प्राप्त होकर, वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहों-को छोड़कर तत्त्ववेत्ता गुरुका आश्रय और संयमको स्वीकार कर, समस्त शास्त्रोंके अध्ययनपूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थानमें रहते हैं और वहां समस्त प्रकारकी चिंताओंका त्याग, शुभ आसनका धारण, पदस्थ पिंडस्थ आदि ध्यानोंका अवलंबन, समताका आश्रय और मनका निश्चलपना धारण कर शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करते हैं उनके समस्त पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं, नानाप्रकारके कल्याणोंके करनेवाले धर्मकी वृद्धि होती है और मोक्ष उससे उन्हें मिलती है। भावार्थ—चिद्रूपका स्मरण करना संसारमें अतिशय कठिन है क्योंकि जो मनुष्य मन वचन और कायसे वैरागी-स्त्री पुत्र आदिमें ममत्व न रखनेवाला, वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्यागी, तत्त्वोंके जानकार गुरुओंका उपासक, परम संयमी, समस्त शास्त्रोंका वेत्ता, निर्जन और निरुपद्रव वनोंमें निवास करने वाला, सब प्रकारकी चिंताओंसे रहित, शुभ आसन, पदस्थ आदि ध्यान और समताका अवलंबी होगा एवं जिसका मन वाह्य पदार्थोंमें चंचल न होकर निश्चल होगा वही शुद्धचिद्रूपका स्मरण कर सकैगा, तथा ऐसे शुद्धचि-द्रूपके स्मरण करनेवाले पुरुपके ही समस्त पापोंका नाश, सर्वोत्तम धर्मकी वृद्धि और मोक्षका लाभ होगा इसलिये सुखके अभिलाषी जीवोंको चाहिये कि वे उपर्युक्त वातोंके साधन मिलाकर शुद्धचिद्रूपके स्मरणका अवश्य प्रयत्न करैं ॥ ४–७ ॥

वार्वाताग्न्यमृतोपवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा
सूर्येण प्रियभापितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयं ।
अग्न्यब्दागविषं मलागफणिनोऽज्ञानं गदेभव्रजाः
रात्रिर्वैरमिहावनावघचयश्चिद्रूपसंचिंतया ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जल अग्निका क्षय करता है, पवन मेघका, अग्नि वृक्षका, अमृत विषका, खार मैलका, वज्र पर्वतका, गरुड़ सर्पका, ज्ञान अज्ञानका, औषध रोगका, सिंह हाथियोंका, सूर्य रात्रिका और प्रियभापण वैरका नाश करता है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है। भावार्थ-जिन जिनका आपसमें विरोध होता है उनमें बलवान विरोधी दूसरे निर्बल विरोधीका अवश्य नाश करता है जल अग्नि, पवन मेघ, अग्नि वृक्ष, अमृत विप, खार मैल, वज्र पर्वत, गरुड़ सर्प, ज्ञान अज्ञान, औषध रोग, सिंह हाथी ,सूर्य रात्रि, और प्रियभापण वैरका आपसमें विरोध है बलवान जल आदि अग्नि आदिको नष्ट करदेते हैं उसी प्रकार शुद्धचिद्रूप और पापोंका आपसमें विरोध है इसलिये शुद्धचिद्रूपके सामने पाप जरा भी नहिं टिक सकते ॥ ८ ॥

वर्द्धंते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः ।
तथा चिद्रूपसद्ध्यानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार पहिलेसे ऊगे हुये वृक्ष, मेघके जलसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यान-से धर्म भी वृद्धिको प्राप्त होता है और नानाप्रकारके कल्याणोंको प्रदान करता है। भावार्थ–धर्म आत्माका स्वभाव है सिवाय आत्माके वह कभी किसी कालमें दूसरे पदार्थोंमें नहिं रहसकता किंतु कर्मोंके प्रबल पर्दाके पड़जानेसे उसका स्वरूप कुछ ढक जाता है–धर्माचरणकरनेमें मनुष्योंके परिणाम नहिं लगते परंतु जिसप्रकार जमीनमें पहिलेसे ही ऊगे हुये वृक्ष; मेघकी सहायतासे वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं और नाना प्रकारके फलोंको प्रदान करते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानके द्वारा कर्मोंके नष्ट हो जानेसे धर्मभी वृद्धिको प्राप्त होजाता है और उससे जीवोंको अनेक प्रकारके कल्याणोंकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार मेघसे भूमिके अंदर हरे हरे अंकुर उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे

मुक्ति प्रदान करनेवाला धर्म भी उत्पन्न होता है —अर्थात् शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे अनुपम धर्मकी प्राप्ति होती है और उसकी सहायतासे जीव मोक्ष सुखका अनुभव करते हैं ॥ १० ॥

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमंतर्वहिःसंगमोचनं ॥
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिच्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो विद्वान पुरुष शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके साथ व्रतोंका आचरण करता है शास्त्रोंका स्वाध्याय, तपका आराधन, निर्जनवनमें निवास, वाह्य अभ्यंतर परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है उसे ही मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—चाहैं कितना भी व्रतोंका आचरण, शास्त्रोंका स्वध्याय, तपका आराधन, निर्जनवनमें निवास, वाह्य अभ्यंतर दोनोप्रकारके परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा, और आतापन योगका धारण करो जबतक उनके साथ साथ शुद्धचिद्रूपका चिंतवन न किया जायगा तब तक उनसे कभी भी मोक्षसुख प्राप्त न होगा इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे व्रत आदिके आचरणके साथ अवश्य शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करैं ॥ ११ ॥

शुद्धचिद्रूपके रक्तः शरीरादिपराङ्मुखः ।
राज्यं कुर्वन्न बंधेत कर्मणा भरतो यथा ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष शरीर स्त्री पुत्र आदिसे ममत्व छोड़कर शुद्धचिद्रूपमें अनुराग करनेवाला है वह राज्य करता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बधता जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत। भावार्थ–भगवान ऋषभदेवके पुत्र चक्रवर्ती राजा भरत छैखंडकी पृथ्वीके शासक थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके सेवक, छयानवे हजार आज्ञाकारिणीं रानियां और भी हाथी घोड़ा आदि लाखों करोड़ों थे तथापि उनका सिवाय शुद्धचिद्रूपके जरा भी किसीमें अनुराग न था। वे सदा सबसे पराङ्मुख रहते थे इसलिये जिससमय वे परिग्रहसे सर्वथा ममत्वरहित हो तपोवन गये उस समय कपड़े खोलते खोलते ही उन्हें केवलज्ञान होगया और समस्त कर्मोंका नाश कर वे मोक्ष शिलापर जा विराजे, उसीप्रकार भरत चक्रवर्तीके समान जो मनुष्य शरीर आदिसे ममत्व न कर शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करता है वह राज्यका भोग करता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बंधता और मोक्ष सुखका अनुभव करता है ॥ १२ ॥

स्मरन्स्व शुद्धचिद्रूपं कुर्यात्कार्यशतान्यपि ।
तथापि न हि बध्येत धीमानशुभकर्मणा ॥ १३ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपको स्मरण करता हुआ बुद्धिमानं पुरुष यदि सैकड़ों भी अन्य अन्य कार्य करै तथापि उसकी आत्माके साथ किसी प्रकारके अशुभ कर्मका बंध नहिं होता। भावार्थ–बंधके होनेमें कारण ममत्व है सैकड़ों कार्य करनेपर भी यदि परपदार्थोंमें किसी प्रकारकी ममता नहीं हो तो कदापि बंध नहिं हो सकता ॥ १३ ॥

रोगेण पीडितो देही यष्टिमुष्टयादिताडितः ।
बद्धो रज्वादिभिर्दुःखी न चिद्रूपं निजं स्मरन् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करनेवाला है चाहे वह कैसे भी रोगसे पीड़ित क्यों न हो। लाठी मुकोंसे ताड़ित और रस्सी आदिसे भी क्यों न बंधा हुआ हो उसे जरा भी क्लेश नहि होता अर्थात् वह यह जानकर कि "ये सारी व्याधियां शरीरमें होती हैं मेरे शुद्धचिद्रूपमें नहीं और शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न है" रंचमात्र भी दुःखका अनुभव नहिं करता ॥ १४ ॥

बुभुक्षया च शीतेन वातेन च पिपासया ।
आतपेन भवेन्नार्तो निजचिद्रूपचिंतनात् ॥ १५ ॥

अर्थ—आत्मिक शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे मनुष्यको भूंख, ठंडी, पवन, प्यास और आतापकी भी बाधा नहिं होती-भूख आदिकी बाधा होनेपर भी वह आनंद ही मानता है ॥ १५ ॥

हर्षो न जायते स्तुत्या विषादो न स्वनिंदया ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोऽगिनः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो प्रतिदिन शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है उसै दूसरे मनुष्योंसे अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नहि होता और निंदा सुनकर किसी प्रकारका विषाद नहिं होता—निंदा स्तुति दोनों दशामें वह मध्यस्थरूपसे रहता है ॥१६॥

रागद्वेषौ न जायेते परद्रव्ये गतागते ।
शुभाशुभेऽगिनः शुद्धचिद्रूपासक्तचेतसः ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यका चित्त शुद्धचिद्रूपमें आसक्त है वह स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यके चले जानेपर द्वेष नहिं करता और उनकी प्राप्तिमें अनुरक्त नहिं होता । तथा अच्छी बुरी बातोंके प्राप्त होजानेपर भी उसै किसीप्रकारका राग द्वेष नहिं होता ॥ १७ ॥

न संपदि प्रमोदः स्यात् शोको नापदि धीमतां ।
अहो स्वित्सर्वदात्मीयशुद्धचिद्रूपचेतसां ॥ १८ ॥

अर्थ—सदा शुद्धचिद्रूपमें मन लगानेवाले बुद्धिमान पुरुषोंको संपत्तिके प्राप्त होजानेपर हर्ष और विपत्तिके आनेपर विषाद नहिं होता-वे संपत्ति और विपत्तिको समान रूपसे मानते हैं ॥ १८ ॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न मुंचंति सर्वदा ।

गच्छंतोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि ॥ १९ ॥
तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न ॥ २० ॥

अर्थ—जो महानुभाव आत्मिक शुद्धचिद्रूपका कभी त्याग नहिं करते वे यदि अन्य भवमें भी चले जांय तो भी उनके शुद्धचिद्रूपका अभ्यास नहिं छूटता-पहिले भवमें जैसी उनकी शुद्धद्रूपमें लीनता रहती है वैसी ही वनी रहती है इसलिये हे आत्मन् ! तू शुद्धचिद्रूपके ध्यानका इस रूपसे सदा अभ्यास कर, जिससे कि भयंकर दुःख और मरणके प्राप्त होजानेपर भी उसका विनाश न हो-वह ज्योंका त्यों वना रहै ॥ १९–२० ॥

वदन्नन्यैर्हसन् गच्छन् पाठयन्नागमं पठन् ।
आसनं शयनं कुर्वन् शोचनं रोदनं भयं ॥ २१ ॥
भोजनं क्रोधलोभादि कुर्वन् कर्मवशात् सुधीः ।
न मुंचति क्षणार्द्धं स शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ २२ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपं स्मरन्नन्यकार्यं करोतीति प्रतिपादकश्चतुर्दशोऽध्यायः

अर्थ—जो पुरुष बुद्धिमान हैं–यथार्थमें शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके जानकार हैं वे कर्मोंके फंदमें फंसकर बोलते हंसते, चलते, आगमको पढाते, पढते, बैठते, सोते, शोककरते, रोते, डरते, खाते, पीते और क्रोध लोभ आदिको भी करते हुये क्षणभरकेलिये भी शुद्धचिद्रूपके स्वरूपसे विचलित नहिं होते-प्रतिक्षण वे शुद्धचिद्रूपका ही चिंतवन करते रहते हैं ॥ २१–२२ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मिततत्त्वज्ञानतरंगिणीमें 'शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है' इसवातको वतलानेवाला चौदहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

पंद्रहवां अध्याय ।

गृहं राज्यं मित्रं जनकजननीं भ्रातृपुत्रं कलत्रं
सुवर्णं रत्नं वा पुरजनपदं वाहनं भूषणं वै ॥
खसौख्यं क्रोधाद्यं वसनमशनं चित्तवाकायकर्म–
त्रिधा मुंचेत्प्राज्ञः शुभमपि निजं शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै ॥ १ ॥

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्योंको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करनेके लिये शुभ होनेपर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण. इंद्रियजन्यसुख, क्रोध वस्त्र और भोजन आदिक मन वचन कायसे सर्वथा त्याग देने चाहिये। भावार्थ—यद्यपि, संसारमें घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, सुवर्ण, रत्न, पुर, नगर, सवारी, इद्रियजन्य सुख, आदिसेभी काम चलता है और शुभ भी हैं परंतु शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्तिमें बाधक हैं जबतक इनकी ओर ध्यान रहता है तब तक कदापि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहि हो सकती इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये घर राज्य आदिका सर्वथा त्याग करदें ॥१॥

सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तकधने
पुरादौ मंत्रादौ यशसि पठने राज्यकदने ॥
गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये
कुधर्मे वांछा स्यात् सुरतरुसुखे मोहवशतः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दीन जीवकी मोहकेवशसे पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मंत्र, कीर्ति ग्रथोंका अभ्यास, राज्य, युद्ध, गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इद्रियोंके विषय, कुधर्म, और कल्पवृक्ष आदिमें

वांछा होती है । भावार्थ—जबतक इसजीवके मोहका उदय रहता है तबतक यह पुत्र पुत्री स्त्री शरीर आदि परपदार्थोंको अपनाता रहता है और उनके फंदमें फसकर आत्मिक शुद्धचिद्रूपको सर्वथा.भुला देता है परंतु मोहके नाश होते ही इसै अपने परायेका ज्ञान हो जाता है इसलिये उससमय पुत्र धन आदि पदार्थोंकी ओर यह झांक कर भी नहिं देखता ॥ २॥

किं पर्यायैर्विभावैस्तव हि चिदचितां व्यंजनार्थाभिधानैः
रागद्वेषाप्तिवीजैर्जगति परिचितैः कारणैः संसृतेश्च ॥
मत्वैवं त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मंक्षु तेषां
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचलतयांतर्दृशा संविधेहि ॥ ३ ॥

अर्थ—हे चिदात्मन् ! संसारमें चेतन और अचेतनकी जो अर्थ और व्यंजन पर्यायें मालूम पड़रही हैं वे सब स्वभाव नही विभाव हैं निंदित हैं राग द्वेष आदिकी और संसारकी कारण हैं ऐसा भलेप्रकार निश्चयकर तू इनका विचार करना छोड़दे और आत्मिक शुद्धचिद्रूपको अपनी अंतर्दृष्टिसे भलेप्रकार पहिचान कर उसीमें निश्चलरूपसे स्थिति कर । भावार्थ—यदि कोई अपना है तो शुद्धचिद्रूप ही है शुद्धचिद्रूपसे भिन्न कोई पदार्थ अपना नहीं राग-

द्वेष मतिज्ञान और नरनारक आदि पर्यायोंको अपनी मानना भूल है क्योंकि ये विभाव पर्याय हैं स्वभाव नहीं, महानिंदित हैं, इनको अपनानेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है और संसारमें भ्रमण करना पड़ता है इसलिये जो जीव निराकुलतामय सुखके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे शरीर आदि पर्यायोंका चिंतवन करना छोड़ दें और आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें प्रेम करें ॥ ३ ॥

स्वर्णैरत्नैर्गृहैः स्त्रीसुतरथशिविकाश्वेभभृत्यैरसंख्यै-
भूषावस्त्रैः स्रगाद्यैर्जनपदनगरैश्चामरैः सिंहपीठैः ॥
छत्रैरस्त्रैर्विचित्रैर्वरतरशयनैर्भाजनैर्भोजनैश्च
लब्धैः पांडित्यमुख्यैर्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात् ॥ ४ ॥

अर्थ—यह पुरुष मोहकी तीव्रतासे आकुलताके कारण स्वरूप भी सुवर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन, और विद्वत्ता आदिसे व्याकुल नहिं होता। भावार्थ—जहां चित्तको आकुलता नहि रहती वहीं शांति मिलती है सुवर्ण रत्न घर स्त्री आदि पदार्थोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमें चित्त सदा व्याकुल बना रहता है इसलिये उनको अपनानेसे आत्मा निराकुल नहिं होसकता परंतु

यह जीव मोहकी तीव्रतासे ऐसा मूढ होरहा है कि सुवर्ण स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंके अपनानेसे अनंत कष्ट भोगने पर भी यह जरा भी कष्ट नहि मानता उनसे रत्तीभर भी इसका चित्त व्याकुल नहि होता ॥ ४ ॥

रैगोभार्याः सुताश्वा गृहवसनरथाः क्षेत्रदासीभशिष्याः
कर्पूराभूषणाद्यापणवनशिविका बंधुमित्रायुधाद्याः ॥
मंचा वाप्यादिभृत्यातपहरणखगाः सूर्यपात्रासनाद्याः
दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमतिः सौख्यहेतून् किलैतान् ॥ ५ ॥

अर्थ—देखो! इस बुद्धिशून्य जीवकी समझदारी! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री, पुत्र, अश्व, घर, वस्त्र, रथ, क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, आभूषण, बाजार, वन, पालकी, बंधु, मित्र, आयुध, मांच, (पलंग) बावड़ी, भृत्य, छत्र, भाजन, और आसन आदि पदार्थ दुःखके कारण हैं जिन्हें अपनानेसे जरा भी सुख नहिं मिलता उन्हें यह सुखके कारण मानता है अपने मान रातदिन उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है ॥ ५ ॥

हंस ! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा ।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा ॥ ६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिसप्रकार प्रतिदिन तू परद्रव्योंका स्मरण करता है स्त्री पुत्र आदिको अपना मान उन्हींकी चिंतामें मग्न रहता है उसीप्रकार यदि तू शुद्धचिद्रूपका भी स्मरण करै-उसीके ध्यान और चिंतवनमें अपना समय व्यतीत करै तो क्या तेरे लिये मोक्ष समीप न रहजाय ! अर्थात् तू बहुत शीघ्र ही मोक्ष सुखका अनुभव करने लगजाय ॥ ६ ॥

लोकस्य चात्मनो यत्नं रंजनाय करोति यत् ।
तच्चेन्निराकुलत्वाय तर्हि दूरे न तत्पदं ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार यह जीव अपने और लोकके रंजायमान करनेकेलिये प्रतिदिन उपाय करता रहता है उसी प्रकार यदि निराकुलतामय-मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिये उपाय करै तो वह मोक्षस्थान जरा भी उसके लिये दूर न रहै-बहुत जल्दी प्राप्त होजाय ॥ ७ ॥

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ॥ ८ ॥

अर्थ—अपने और परके रंजायमान करनेवाले चिदात्मामें जो जीवका परिणाम लगता है वह तो विभाव

परिणाम गिना जाता है और निराकुल शुद्धचिद्रूपमें जो लगता है वह स्वभाव परिणाम कहा जाता है तथा इस परिणामसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है—उसके विना कदापि सच्चा सुख नहिं मिल सकता ॥ ८ ॥

संयोगविप्रयोगौ च रागद्वेषौ सुखासुखे ।
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं दृश्येते तद्भवं त्यज ॥ ९ ॥

अर्थ—क्या तो यह भव और क्या परभव ! दोनों भवोंमें जीवको संयोग, वियोग, राग द्वेष, और सुख दुःखका सामना करना पड़ता है इसलिये हे आत्मन् ! तू इस संसारका त्याग कर दे । भावार्थ–इष्ट स्त्री पुत्र आदिसे मिलाप होना संयोग है और उनसे जुदाईका नाम वियोग है । परपदार्थोंसे प्रेम करना राग और वैर रखना द्वेष है । इष्ट पदार्थोंके संबंधसे आत्मामें कुछ शांति होना सुख और अशांतिका होना दुःख है । ये सब बातें इस भव परभव दोनोंभवोंमें प्रत्यक्ष देखनेमें आतीं हैं और इनके संबंधसे सदा परिणामोंमें विकलता बनी रहती है इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू निराकुलतामय सुखका अनुभव करना चाहता है तो तू उसके मूलकारण संसारका ही सर्वथा त्याग कर दे—मोक्षस्थानको अपना घर बना ॥ ९ ॥

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥ १० ॥

अर्थ—शास्त्र सद्गुरु और साधर्मी भाइयोंसे अपनी आत्माका वास्तविक स्वरूप पहिचानकर उसी (आत्मा) का अवलंबन कर-उसीके स्वरूपका मनन ध्यान और चिंतवन कर, पर पदार्थोंका संसर्ग करना छोड़ दे-उन्हैं अपने मत मान ॥ १० ॥

अवश्यं च परद्रव्यं नश्यत्येव न संशयः ।
तद्विनाशे विधातव्यो न शोको धीमता क्वचित् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो परद्रव्य है उसका नाश अवश्य होता है कोई भी उसके नाशको नहिं रोक सकता इसलिये जो पुरुष बुद्धिमान हैं स्वद्रव्य और परद्रव्यके स्वरूपके भलेप्रकार जानकार हैं उन्हैं चाहिये कि वे उनके नाश होनेपर कभी किसीप्रकारका शोक न करै ॥ ११ ॥

त्यक्त्वा मां चिदचित्संगा यास्यंत्येव न संशयः ।
तानहं वा च यास्यामि तत्प्रीतिरिति मे वृथा ॥ १२ ॥

अर्थ—ये चेतन अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रह अवश्य मुझै छोड़ देंगे और मै भी सदा काल इनका संग नहिं दे सकता-मुझै भी ये अवश्य छोड़देने पड़ेंगे इसलिये मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है । भावार्थ—

स्त्री पुत्र आदि चेतन, सुवर्ण रत्न आदि अचेतन परिग्रह यदि सदा काल मेरे साथ रहैं वा मैं सदा काल इनके साथ रहा आऊं तब तो इनके साथ मेरा प्रेम करना ठीक है परंतु मेरा तो इनके साथ जिन दिनोंका संबंध है उन्हीं दिनोंका है—अवधिके पूर्ण हो जानेपर न मैं अधिक कालतक इनके साथ रह सकता हूं और न ये ही मेरे साथ रह सकते हैं इसलिये मेरा इन्हें अपनाना-इनके साथ प्रेम करना निष्प्रयोजन है ॥ १२ ॥

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत् ।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलंबिनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मैं अब तत्त्वावलंबी होचुका हूं-अपना और पराया मुझे पूर्ण ज्ञान होगया है इसलिये शास्त्रोंसे उत्पन्न हुआ परद्रव्योंका ज्ञान भी जब मेरे लिये हेय-त्यागने योग्य है तब उन परद्रव्योंके ग्रहणका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये उनकी ओर झांककर भी मुझे न देखना चाहिये । भावार्थ—यद्यपि आत्मस्वरूपके जाननेके लिये शास्त्र वा गुरु आदि-के उपदेशसे परद्रव्यके स्वरूपका ज्ञान करना पड़ता है परंतु जिसकी दृष्टि सर्वथा शुद्धचिद्रूपकी ओर झुकगई है—जो तत्त्वावलंबी होगया है उसकेलिये जब परद्रव्यका ज्ञान भी हेय है-त्यागने योग्य है (क्योंकि वह शुद्धचिद्रूप-की प्राप्तिमें बाधक है) तब उसै परद्रव्योंका तो सर्वथा त्याग करदेना ही चाहिये क्योंकि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमें बलवान बाधक हैं—परद्रव्योंके अपनानेसे तो शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कभी हो ही नहिं सकती ॥ १३ ॥

स्वर्णैरत्नैः कलत्रैः सुतगृहवसनैर्भूषणै राज्यखार्थै-
गोंहस्त्यश्वैश्च पद्भैः रथवरशिविकामित्रमिष्टान्नपानैः ।
चिंतारत्नैर्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-
चिद्रूपाप्तिं विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदा कापि कोपि ॥ १४ ॥

अर्थ—कोई भी प्राणी क्यों न हो जब तक उसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहिं होती तब तक चाहैं उसके पास सुवर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर, वस्त्र, भूषण, राज्य, इंद्रियोंके उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदाति सेना, रथ, पालकी, मित्र, महामिष्ट अन्न पान, चिंतामणि रत्न, खजाने, कल्पवृक्ष और कामधेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों उनसे वह कहीं किसीकालमें भी कृतकृत्य नहिं हो सकता । भावार्थ—सुवर्ण रत्न हाथी घोड़े आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं-सदाकाल विद्यमान नहिं रह सकते और पर हैं परंतु शुद्धचिद्रूप शाश्वत है, कभी भी इसका नाश नहिं हो सकता और निज है इसलिये सुवर्ण आदि पदार्थोंके प्राप्त हो जानेपर भी मनुष्य कृतकृत्य नहिं हो सकता-संसारमें उसे बहुतसे कार्य कारनेकेलिये वांकी रहजाते हैं किंतु जिससमय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाती है उससमय कोई काम करनेकेलिये वाकी नहीं रहता—शुद्धचिद्रूपका स्वामी जीव सदा काल निराकुलतामय शाश्वत सुखका अनुभव करता रहता है ॥ १४ ॥

परद्रव्यासनाभ्यासं कुर्वन् योगी निरंतरं ।
कर्मांगादिपरद्रव्यं मुक्त्वा क्षिप्रं शिवी भवेत् ॥ १५ ॥

अर्थ—निरंतर परद्रव्योंके त्यागका चिंतवन करनेवाला योगी शीघ्रही कर्म और शरीर आदि परद्रव्योंसे रहित होजाता है और परमात्मा बन मोक्षसुखका अनुभव करने लगता है ॥ १५ ॥

कारणं कर्मबंधस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि परद्रव्योंके चिंतवनसे केवल कर्मबंध होता है और स्वद्रव्य-विशुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे केवल मोक्षसुख ही प्राप्त होता है-संसारमें भटकना नहिं पड़ता ॥ १६ ॥

प्रादुर्भवंति निःशेषा गुणाः स्वाभाविकाश्रितः ।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात् ॥ १७ ॥

अर्थ—समस्त परद्रव्योंके सर्वथा त्यागसे—उन्हें न अपनानेसे आत्माके स्वाभाविक गुण-केवलज्ञान आदि प्रकट होते हैं और दोषोंका नाश होता है ॥ १७ ॥

समस्तकर्मदेहादिपरद्रव्यविमोचनात् ।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या सा मुक्तिरिति कथ्यते ॥ १८ ॥

अर्थ--कर्म और शरीर आदि परद्रव्योंके सर्वथा त्यागसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है और उसे ही यतिगण मोक्ष कहकर पुकारते हैं । भावार्थ--समस्त कर्मोंका नाश होजाना मोक्ष बतलाया है और वही विशुद्धचिद्रूप है क्योंकि विशुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति समस्त कर्मोंके नाशसे होती है इसलिये विशुद्धचिद्रूप और मोक्षके नाममें भेद होनेपर भी अर्थमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १८ ॥

अतः स्वशुद्धचिद्रूपलब्धये तत्त्वविन्मुनिः ।
वपुषा मनसा वाचा परद्रव्यं परित्यजेत् ॥ १९ ॥

अर्थ--इसलिये जो मुनिगण भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं-स्व और परका भेद पूर्णरूपसे जानते हैं वे विशुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये मन वचन कायसे परद्रव्यका सर्वथा त्याग करदेते हैं-उसमें जरा भी ममत्व नहि करते ॥ १९ ॥

दिक्चैलैको हस्तपात्रो निरीहः साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी

मौनी कर्मौघेभसिंहो विवेकी सिद्ध्यै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽभिरक्तः ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै परद्रव्यत्यागप्रतिपादक. पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

अर्थ—जो मुनि दिगंबर. पाणिपात्रवाले, समस्त प्रकारकी इच्छाओंसे रहित. समताके अवलंबी, तत्त्वोंके वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियोंके विदारण करनेमें सिंह, विवेकी और शुद्धचिद्रूपमें लीन हैं वे ही परमात्मपद प्राप्त करते हैं-वे ही ईश्वर कहे जाते हैं अन्य नहीं ॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये परद्रव्योंके त्यागका प्रतिपादन करनेवाला पंद्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

सोलहवां अध्याय ।

सद्बुद्धेः पररंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च
ग्रंथार्थग्रहणस्य मानसवचोरोधस्य वाधाहतेः ।
रागादित्यजनस्य काव्यजमतेश्चेतो विशुद्धेरपि

हेतुः स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकं ॥ १ ॥

अर्थ—उत्तमज्ञान, परको रंजायमान करनेमें आकुलताका त्याग, समता, शास्त्रोंके अर्थका ग्रहण, मन और वचनका निरोध. राग द्वेष आदिका त्याग, काव्योंमें बुद्धिका लगना, मनकी निर्मलता. आत्मिक सुखका लाभ और ध्यान, निर्जन-एकांत स्थानके आश्रय करनेसे ही होता है। भावार्थ—जबतक उत्तम ज्ञान, समता, शास्त्र, ध्यान, और उत्तम आत्मिक सुख आदि प्राप्त नहिं होते तब तक किसीप्रकारसे आत्माको शांति नहीं मिल सकती और उनकी प्राप्ति एकांत स्थानके आश्रयसे होती है इसलिये जो मनुष्य उत्तम ज्ञान आदिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे पवित्र और एकांत स्थानका अवश्य आश्रय करें ॥ १ ॥

पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति केनाचिन्मे प्रयोजनं ।
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्त्तिना वा शिवार्थिनः ॥ २ ॥

अर्थ—मैं शिवार्थी हूं-अपनी आत्माको निराकुलतामय सुखका आस्वाद कराना चाहता हूं इसलिये मुझे शत्रु मित्र और मध्यस्थ किसी भी पासमें रहनेवाले जीवसे कोई प्रयोजन नहीं अर्थात् पासमें रहनेवाले जीव, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ सब मेरे कल्याणके बाधक हैं ॥ २ ॥

इंदोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतबलं वर्द्धते मेघवृष्टे-
मोंहानां कर्मबंधो गद इव पुरुषस्यामभुक्तेरवश्यं ॥
नानावृत्ताक्षराणामवनिवरतले छंदसां प्रस्तरश्च
दुःखौघागो विकल्पास्रववचनकुलं पार्श्ववर्त्यंगिनां हि ॥ ३ ॥

अर्थ--जिसप्रकार चंद्रमाके संबंधसे समुद्र, वर्षासे नदीका जल, मोहके संबंधसे कर्मबंध, कच्चे भोजनसे पुरुषोंके रोग और नानाप्रकारके छंदके अक्षरोंसे शोभित प्रस्तारोंके संबधसे छंद उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार पार्श्ववर्ती जीवोंके संबंधसे नानाप्रकारके दुःख और विकल्पमय वचनोंका सामना करना पड़ना है। भावार्थ–जिसप्रकार समुद्रकी वृद्धिमें चंद्रमा, नदीके जलकी बढ़वारीमें मेघ, कर्मबंधमें मोह, रोगकी उत्पत्तिमें अपक्व भोजन, और छंदोंकी रचनामें प्रस्तार कारण हैं उसीप्रकार पार्श्ववर्ती जीवोंका संबंध नानाप्रकारके दुःखोंके देने और परिणामोंके विकल्पमय करनेमें कारण है इसलिये कल्याणके अभिलापियोंको वह सर्वथा वर्जनीय है ॥ ३ ॥

वृद्धिं यात्येधसो बन्हिर्वृद्धौ घर्मस्य वा तृपा।
चिंता संगस्य रोगस्य पीडा दुंःखादिसंगतेः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार ईंधनसे अग्निकी, धूपसे प्यासकी और परिग्रह वा रोगसे चिंताकी वृद्धि होती है उसीप्रकार प्राणियोंकी संगतिसे पीड़ा और दुःख आदि सहन करने पड़ते हैं ॥ ४ ॥

विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजंबालजलधि-
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमताजालसदृशः ।
वरं स्थानं छेत्रीपविरविकरागस्तिजलदा-
गदज्वालाशस्त्रीसममतिभिदे तस्य विजनं ॥ ५॥

अर्थ—जीवोंके विकल्प, वेड़ी, पर्वत, कीचड़, समुद्र, दावाग्निका संताप, रोग, शीतलता और जालके समान होते हैं इसलिये उनके नाशकेलिये छैनी, वज्र, सूर्य, अगस्त नक्षत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरीके समान निर्जन स्थानका ही आश्रय करना उचित है। भावार्थ–जिसप्रकार वेड़ीके काटनेमें छेनी पर्वतके खंड खंड करनेमें वज्र, कीचड़के सुखानेमें सूर्य, समुद्रके जलको शुष्क करनेमें अगस्तिऋषि, वनाग्निके बुझानेमें मेघ, रोगके नाश करनेमें औषधि, शीतलता नष्ट करनेमें अग्नि, और जालके काटनेमें छुरी कारण है विना छेनी आदिके वेड़ी आदिका फंद कट नहीं सकता उसीप्रकार विकल्पोंके नाशकरनेमें निर्जन स्थान कारण है निर्जन स्थानको विना आश्रय किये विकल्प कभी नहिं हट सकते ॥ ५ ॥

तपसां वाह्यभूतानां विविक्तशयनासनं ।
महत्तपो गुणोद्भूतेरागत्यागस्य हेतुतः ॥ ६ ॥

अर्थ—वाह्य तपोंमें विविक्तशयनासन (एकांत स्थानमें सोना और बैठना) तपको महान तप बतलाया है क्योंकि इसके आराधन करनेसे आत्मामें गुणोंकी प्रगटता होती है और मोहका नाश होता है। भावार्थ—अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशयनासन और कायक्लेशके भेदसे वाह्य तप छै प्रकारका है परंतु उनसबमें उत्तम और महान् तप विविक्तशय्यासन ही है क्योंकि इसके आराधन करनेसे आत्मामें नानाप्रकारके गुणोंकी प्रकटता और समस्त मोहकी नास्ति होती है ॥ ६ ॥

काचिच्चिंता संगतिः केनचिच्च रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा ।
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां मूर्च्छा ज्ञेया ध्यानविध्वंसिनी च ॥ ७ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदिकी चिंता, प्राणियोंके साथ संगति, रोग आदिसे वेदना, तीव्रनिद्रा और क्रोधमान आदि कषायोंकी उत्पत्ति होना मूर्च्छा है और इस मूर्च्छासे ध्यानका सर्वथा नाश होता है। भावार्थ—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं इसप्रकारके परिणामका नाम मूर्च्छा है इसलिये इससे मनुष्यको नानाप्रकारकी चिंतायें, प्राणियोंके साथ संगति,

रोग आदिसे तीव्रवेदना, अधिकनिद्रा और क्रोध मान माया आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती है तथा ध्यानका नाश होता है-मूर्छित मनुष्य किसीप्रकारका ध्यान नहिं करसकता ॥ ७ ॥

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥ ८ ॥

अर्थ—बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग, एकांतस्थान, तत्त्वोंका ज्ञान, समस्तप्रकारकी चिंताओंसे रहितपना, किसीप्रकारकी बाधाका न होना और मन वचन कायका वश करना ये ध्यानके कारण हैं और इनहीके आश्रय करनेसे मुनियोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

विकल्पपरिहाराय संगं मुंचंति धीधनाः ।
संगतिं च जनैः सार्द्धं कार्यं किंचित्स्मरंति न ॥ ९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं-स्व और परके स्वरूपके जानकार होकर अपनी आत्माका कल्याण करना चाहते हैं वे संसारके कारणस्वरूप विकल्पोंके नाश करनेकेलिये बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करदेते हैं दूसरे मनुष्योंके साथ संगति और किसीकार्यका चिंतवन भी नहिं करते ॥ ९ ॥

वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयंति यथांगिनः ।
विकल्पाश्च तथात्मानं तेपु सत्सु कुतः सुखं ॥ १० ॥

अर्थ—जिसप्रकार शरीरपर एक साथ लगे हुये अनेक विच्छू प्राणीको काटते और दु खित बनाते हैं उसी-प्रकार अनेक प्रकारके विकल्प भी आत्माको बुरीतरह दुःखाते हैं जरा भी शांतिका अनुभव नहिं करने देते इसलिये उन विकल्पोंकी मोजूदगीमें आत्माको कैसे सुख होसकता है? विकल्पोंके जालमें फसकर रत्तीभर भी यह जीव सुखका अनुभव नहिं कर सकता ॥ १० ॥

वाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं ।
अंतःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥ ११ ॥

अर्थ—जब मुझै वाह्य संगतिके त्यागसे ही परम सुखकी प्राप्ति होती है तब अंतरंग संगतिके त्यागसे तो और भी अधिक सुख मिलैगा । भावार्थ—जब मुझै स्त्री पुत्र आदि वाह्य पदार्थोंकी संगतिके त्यागसे ही परम सुख प्राप्त होता है तब राग द्वेप आदि अंतरंग पदार्थोंकी संगतिके त्यागसे तो उससे भी अधिक सुख मिलैगा ॥११॥

वाह्यसंगतिसंगेन सुखं मन्येत मूढधीः ।

तत्त्यागेन सुधीः शुद्धचिद्रूपध्यानहेतुना ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुग्ध हैं-अपना पराया जरा भी भेद नहिं जानते वे वाह्य पदार्थोंकी संगतिसे अपनेको सुखी मानते हैं परंतु जो बुद्धिमान हैं-तत्त्वोंके भलेप्रकार वेत्ता हैं वे यह जानकर कि वाह्य पदार्थोंकी संगतिका त्यागही शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें कारण है-उसके त्यागसे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान हो सकता है वाह्य पदार्थोंका सहवास न करनेसे ही अपनेको सुखी मानते हैं ॥ १२ ॥

अवमोदर्यात्साध्यं विविक्तशय्यासनाद्विशेषेण ।
अध्ययनं सध्यानं मुमुक्षुमुख्याः परं तपः कुर्युः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुमुक्षुओंमें मुख्य हैं बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवमोदर्य और विविक्तशय्यासनकी सहायतासे निष्पन्न ध्यानके साथ अध्ययन स्वाध्याय रूप परम तपका अवश्य आराधन करैं। भावार्थ-ध्यान और स्वाध्याय तप तभी सिद्ध हो सकते हैं जब अवमोदर्य (थोड़ा अहार करना) और विविक्तशय्यासन तपोंका विशेपरूपसे आश्रय किया जाय क्योंकि जो मनुष्य गरिष्ठ वा भरपेट भोजन करेगा और जनसमुदायमें रहैगा वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नहिं कर सकता इसलिये उत्तम पुरुषोंको स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके-लिये आलस्य न दबा बैठे इसकारण बहुत कम आहार और एकांत स्थानका आश्रय करना चाहिये ॥ १३ ॥

ते वंद्याः गुणिनस्ते च ते धन्यास्ते विदांवराः ।
वसंति निर्जने स्थाने ये सदा शुद्धचिद्रताः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपमें अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्तिके लिये निर्जन स्थानमें निवास करते हैं संसारमें वे ही वंदनीक-सत्कारके योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानोंके शिरोमणि हैं-अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हींका आदर सत्कार करते हैं और उन्हें ही गुणी धन्य और विद्वानोंमें उत्तम मानते हैं ॥ १४ ॥

निर्जनं सुखदं स्थानं ध्यानाध्ययनसाधनं ।
रागद्वेषविमोहानां शातनं सेवते सुधीः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह निर्जन स्थान अनेक प्रकारके सुख प्रदान करनेवाला है ध्यान और अध्ययनका कारण है राग द्वेष और मोहका नाश करनेवाला है इसलिये बुद्धिमान पुरुष अवश्य उसका आश्रय करते हैं ॥ १५ ॥

सुधाया लक्षणं लोका वदंति बहुधा मुधा ।
बाधाजंतुजनैर्मुक्तं स्थानमेव सतां सुधा ॥ १६ ॥

अर्थ—लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकारसे बतलाते हैं परंतु वह ठीक नहीं मिथ्या है क्योंकि

जहांपर किसी प्रकारकी बाधा, डांस मच्छर आदि जीव और जनसमुदाय न हो ऐसे एकांत स्थानका नाम ही वास्तवमें सुधा है। भावार्थ–जो सुख देनेवाला हो वही सुधा--अमृत है शुद्धचिद्रूपके अमिलाषियोंको समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित एकांत स्थान सुखका देनेवाला है इसलिये उनकेलिये वही अमृत है और लोककथित अमृत, अमृत नहीं है ॥ १६ ॥

भूमिगृहे समुद्रादितटे पितृवने वने ।
गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं-हित अहितके जानकार हैं वे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सिद्धिकेलिये जमीनके भीतर घरोंमें- सुरंगोंमें, समुद्र नदी आदिके तटोंपर श्मशान भूमियोंमें, और वनगुफा आदि निर्जन स्थानोंमें निवास करते हैं ॥ १७ ॥

विविक्तस्थानकाभावात् योगिनां जनसंगमः ।
तेषामालोकनेनैव वचसा स्मरणेन च ॥ १८ ॥
जायते मनसः स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः ।

तेभ्यः क्लेशो भवेत्तस्मान्नाशं याति विशुद्धता ॥ १९ ॥
तया विना न जायेत शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
विना तेन न मुक्तिः स्यात् परमाखिलकर्मणां ॥ २० ॥ चतुःकलं ॥
तस्माद्विविक्तसुस्थानं ज्ञेयं संक्लेशनाशनं ।
मुमुक्षुयोगिनां मुक्तेः कारणं भववारणं ॥ २१ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै निर्जनस्थानाश्रयणप्रतिपादकः षोडशोऽध्यायः ॥

अर्थ—एकांत स्थानके अभावसे योगियोंको जनोंके संघट्टमें रहना पड़ता है इसलिये उनके देखने, वचन सुनने और स्मरणकरनेसे उनका मन चंचल हो उठता है। मनकी चंचलतासे विशुद्धिका नाश होता है और विशुद्धिके विना शुद्धचिद्रूपका चिंतवन नहिं हो सकता तथा विना उसके चिंतवन किये समस्त कर्मोंके नाशसे होनेवाली मोक्ष नहिं प्राप्त हो सकती इसलिये मोक्षाभिलाषी योगियोंको चाहिये कि वे एकांत स्थानको समस्त दुःखोंका दूर करनेवाला मोक्षका कारण और संसारका नाश करनेवाला जान अवश्य उसका आश्रय करै ॥ १८–२१ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मिततत्त्वज्ञानतरंगिणीमें 'शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकेलिये निर्जन स्थानके आश्रयका बतलानेवाला सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सत्रहवां अध्याय।

मुक्ताविद्रुमरत्नधातुरसभूवस्त्राशरुग्भूरुहां
स्त्रीभाश्वाहिगवां नृदेवविदुषां पक्षांबुगानामपि।
प्रायः संति परीक्षकाः भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो
दृश्यंते खभवे रताश्च बहवः सौख्ये च नातींद्रिये ॥ १ ॥

अर्थ---इस संसारमें मोती, मूगा, रत्न, धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष, स्त्री, हाथी, घोडे, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी, और जलचर जीवोंकी परीक्षा करनेवाले अनेक मनुष्य हैं! इद्रियोंसे उत्पन्न हुये ऐंद्रियिक सुखमें भी बहुतसे अनुरक्त हैं परंतु निराकुलतामय सुखकी परीक्षा और उसमें अनुराग करनेवाले बहुत ही थोड़े हैं। भावार्थ--इससंसारमें परीक्षा करनेवाले विद्वान पुरुषोंकी और सुखके अनुभव करनेवालोंकी कमी नहीं है परंतु वे यह नहिं समझते कि हमें किस बातकी परीक्षा और कैसे सुखका अनुभव करना चाहिये? बहुतसे मनुष्य मोती मूगा रत्न सुवर्ण आदि धातु उत्तमोत्तम रस पृथ्वी रोग हाथी अश्व आदि पदार्थोंकी परीक्षामें प्रवीण हैं इद्रिय जन्य सुखोंका भी पूर्णतया अनुभव करना जानते हैं परंतु उनकी उसप्रकारकी परीक्षा और अनु-

भव कार्यकारी नहीं क्योंकि ये सब पदार्थ अनित्य हैं, नित्य पदार्थ निराकुलतामय सुख है इसलिये उसीकी परीक्षा और अनुभवसे कार्य और कल्याण हो सकता है ॥ १ ॥

निर्द्रव्यं स्ववशं निजस्थमभयं नित्यं निरीहं शुभं
निर्द्वंद्वं निरुपद्रवं निरुपमं निर्बंधमूहातिगं ॥
उत्कृष्टं शिवहेत्वदोषममलं यद्दुर्लभं केवलं
स्वात्मोत्थं सुखमीदृशं च खभवं तस्माद्विरुद्धं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख; निर्द्रव्य है-पर द्रव्योंके सपर्कसे रहित है, स्वाधीन, आत्मिक भयोंसे रहित, नित्य, समस्त प्रकारकी इच्छाओंसे रहित, शुभ, निर्द्वंद्व, सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित, अनुपम, कर्मबंधोंसे रहित, तर्कवितर्कके अगोचर, उत्कृष्ट, कल्याणोंका करनेवाला, निर्दोष, निर्मल, और दुर्लभ है परंतु इंद्रियजन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है वह परद्रव्योंके संबंधसे होता है पराधीन, पर, नानाप्रकारके भयोंका करनेवाला, विनाशीक, अनेक प्रकारकी इच्छा उत्पन्न करनेवाला, अशुभ, आकुलतामय, अनेक प्रकारके उपद्रवोंको खड़ा करनेवाला, महानिंदनीक, कर्मबंधका कारण, महानिकृष्ट, दुःख देनेवाला, अनेक प्रकारके दोष और मलोंका भंडार और सुलभ है इसलिये सुखाभिलाषी जीवोंको चाहिये कि निराकुलतामय सुखकी प्राप्तिका उपाय करैं ॥ २ ॥

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये हित्वा च संगं त्रिधा
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयं ।
त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मिक शांतिमय सुखके अभिलाषी हैं उसे हस्तगत करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे संसार शरीर और भोगोंका त्यागरूप तीनप्रकारका वैराग्य धारण कर, चेतन अचेतन और मिश्र तीनोंप्रकारका परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रंथ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रयका आश्रय कर, दूसरे जीवोंका सहवास और राग द्वेष आदिका सर्वथा त्यागकर सब उपद्रवोंसे रहित एकांत स्थानमें निवास करैं। भावार्थ—जबतक संसार शरीर और भोगोंसे ममत्व न हटैगा सुवर्ण रत्न क्रोध मान और स्त्री पुत्र दासी दास आदि परिग्रहका त्याग न होगा, श्रेष्ठगुरु निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका आराधन न किया जायगा, अन्य मनुष्योंका सहवास और राग आदि दूर न करदिये जांयगे और एकांत स्थानमें निवास न किया जायगा तबतक निराकुलतामय सुख प्राप्त होना सर्वथा असंभव है इसलिये जो मनुष्य इस सुखके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे उपर्युक्त बातोंपर अवश्य ध्यान दें ॥ ३ ॥

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥ ४ ॥

अर्थ---इंद्रियजन्य सुख, सुख नहीं है किंतु मनुष्योंकी अभिलाषाजन्य वेदनाओंका नष्ट करनेवाला सुख, सुख है और वह सुख, निराकुलरूपसे और शुद्ध परिणामसे जो अपने चिदानंदस्वरूप--आत्मामें स्थितिका होना है वह है। भावार्थ--जिस सुखसे हमारी अभिलाषा और वेदनायें नष्ट हों वही वास्तवमें सुख है इंद्रिजयन्य सुख, सुख नहिं कहा जा सकता क्योंकि वह परिणाममें दुःख देने वाला है और अभिलाषा तथा वेदनाओंका उत्पादक है इसलिये उस अनुपम सुखको प्राप्त करनेके लिये निराकुलता और विशुद्ध परिणामोंसे अपनी आत्मामें स्थिति करनी चाहिये ॥ ४ ॥

नो द्रव्यात्कीर्तितः स्याच्छुभखविषयतः सौधतूर्यत्रिकाद्वा
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्यादृतुभ्यः ।
राज्यात्संराजमानात् बलवसनसुतात्सत्कलत्रात्सुगीतात्
भूषाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात् ॥५॥

अर्थ—यह निराकुलतामय तात्त्विक सुख न द्रव्यसे प्राप्त हो सकता है न कीर्ति, इंद्रियोंके शुभ विषय, उत्तम महल और गाजे बाजोंसे मिलसकता है उत्तम रूप, इष्ट पदार्थोंका समागम, अनिष्टोंका वियोग और उत्तमोत्तम क्रीड़ा आदि भी इसे प्राप्त नहिं करा सकते। छै ऋतु, राज्य, राजाकी ओरसे सन्मान, सेना, उत्तम वस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्णप्रिय गाना, भूषण, एवं वृक्ष, पर्वत और सवारी आदिसे भी प्राप्त नहिं हो सकता क्योंकि द्रव्य आदिके संबंधमे चित्त व्याकुल रहता है और चित्तकी व्याकुलता, निराकुलतामय सुखको रोकनेवाली होती है। भावार्थ—चाहे मनुष्य कैसा भी द्रव्यपात्र क्यों न होजाय! कीर्ति इंद्रियोंके विषय, महल, रूप, राज्य, आदि पदार्थ भी उसके क्यों न यथेष्ट हो जांय परंतु उनसे वह निराकुलतामय सुखका अनुभव नहिं करसकता सदा उसके परिणाम द्रव्य कीर्ति आदि पदार्थोंके जुटानेमें ही व्यग्र रहते हैं ॥ ५ ॥

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य मोहसे मूढ़ और परसमयमें रत हैं-परपदार्थोंको अपनानेवाले हैं वे चाहें पुर, गांव, वन

पर्वतके अग्रभाग, समुद्र नदी आदिके तट, मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामंडप और तंबू आदि स्थानोंमें किसी स्थानपर निवास करैं, उन्हें निराकुलतामय सुखका कणतक प्राप्त नहिं हो सकता अर्थात् मोह और परद्रव्योंका प्रेम निराकुलतामय सुखका बाधक है ॥ ६ ॥

निर्गोते गूथकीटे पशुनृपतिगणे भारवाहे किराते
सरोगे मुक्तरोगे धनवति विधने वाहनस्थे च पद्गे।
युवादौ बालवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्
सदा वा सर्वदैवैतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वं ॥ ७ ॥

अर्थ—निगोदिया जीव, विष्टाके कीड़ा, पशु, राजा, भार वहनकरनेवाले, भील, रोगी, नीरोग, धनवान, निर्धनी, सवारीपर घूमनेवाले, पैदल चलनेवाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवोंमें जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख कभी वा सदा देखनेमें आता है उससे क्या प्रयोजन? अथवा वह सर्वदा ही बना रहै तबा भी क्या प्रयोजन! क्योंकि वह पहिले कभी भी नहिं प्राप्त हुआ ऐसा निराकुलतामय सुख नहिं है अर्थात् इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख विनाशीक है और सुलभरूपसे कहीं न कहीं कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है परंतु निराकुलतामय सुख नित्य अविनाशी है

और आत्माको विना विशुद्ध किये कभी प्राप्त नहिं हो सकता इसलिये इंद्रिय सुख कैसा भी क्यों न हो वह कभी निराकुलतामय सुखकी तुलना नहिं कर सकता ॥ ७ ॥

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥ ८ ॥

अर्थ—पदार्थोंका देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान) सिद्ध और संसारी दोनोंके होता है परंतु सिद्धोंके वह निर्विकल्प-आकुलतारहित और संसारी जीवोंके सविकल्प-आकुलतासहित होता है ॥ ८ ॥

व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः ।
कर्मबंधोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस ज्ञानकी मोजूदगीमें आकुलता हो वह ज्ञान सविकल्पक और जिसमें आकुलता न हो वह ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है उनमें सविकल्प ज्ञानके होनेपर कर्मोंका बंध और दुःख भोगना पड़ता है और निर्विकल्पक ज्ञानके होनेपर कर्मोंका अभाव और परम सुख प्राप्त होता है । भावार्थ-मनःपर्यय ज्ञान और अवधिदर्शन तक जितने ज्ञान और दर्शन हैं सब सविकल्पक हैं । उनकी विद्यमानतामें कुछ न कुछ आत्मामें विकल्प हुआ ही

करते हैं और विकल्पोंसे कर्मबंध एवं दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु जिससमय केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप निर्विकल्पक दर्शन ज्ञान प्राप्त होजाते हैं उससमय समस्त विकल्प शांत होजाते हैं कर्मोका नाश और निराकुलतामय सुख भी प्राप्त होजाता है ॥ ९ ॥

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥ १० ॥

अर्थ—आकुलताके भंडार इस सविकल्पक सुखका मैने बहुत बार अनुभव किया है-जिस गतिके अंदर गया हूं वहां मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है इसलिये वह मेरे लिये अपूर्व नहीं है परंतु निराकुलतामय-निर्विकल्पक सुख मुझे कभी प्राप्त नहिं हुआ इसलिये उसीकी प्राप्तिकेलिये मेरी अत्यंत इच्छा है-वह कब मिले इस आशासे सदा मेरा चित्त भटकता फिरता है ॥ १० ॥

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः ।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥ ११ ॥

अर्थ—रागी द्वेषी और मोही चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है वह दुःखस्वरूप है-उसज्ञानसे

जीवोंको दुःख भोगना पड़ता है और वीतराग वीतद्वेष और वीतमोह चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है वह सुख स्वरूप है-उस ज्ञानसे सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

रवेः सुधायाः सुरपादपस्य चिंतामणेरुत्तमकामधेनोः ।
दिवो विदग्धस्य हरेरखर्वं गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णुके अखंड भी गर्वको देखते देखते चूरकरनेवाला है और विजयशील है। भावार्थ—यह चिदात्मा दीप्तिमें सूर्यसे भी चढ़ बढ़कर है-महादीप्तिमान है, आनंद प्रदानकरनेमें अमृतको भी जीतनेवाला है, कल्पवृक्ष चिंतामणि और कामधेनुसे भी अधिक इच्छाओंका पूरण करनेवाला है। स्वर्गसे भी अधिक सुख देनेवाला, अपनी विद्वत्तासे विद्वानकी विद्वत्ता जीतनेवाला, और विष्णुसे अधिक अखंडप्रतापका भंडार है ॥ १२ ॥

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस अचल शांतिसे संसारमें यह मालूम होता है कि यह चिंता है यह दुःख है यह सुख और

शांति है- वह (शांति) इसी शुद्धचिद्रूपमें लीनतासे होती है-विना शुद्धचिद्रूपमें लीनता किये चिंता दुःख आदिके अभावके स्वरूपका ज्ञान नहिं हो सकता ॥ १३ ॥

मुंच सर्वाणि कार्याणि संगं चान्यैश्च संगतिं ।
भो भव्य ! शुद्धचिद्रूपलये वांछास्ति ते यदि ॥ १४ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू शुद्धचिद्रूपमें लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो तू सांसारिक समस्त कार्य, वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रह और दूसरोंका सहवास सर्वथा छोड़ दे ॥ १४ ॥

मुक्ते वाह्ये परद्रव्ये स्यात्सुखं चेच्चितो महत् ।
सांप्रतं किं तदादोऽतः कर्मादौ न महत्तरं ॥ १५ ॥

अर्थ—जब वाह्य परद्रव्यके नाश होजानेपर भी आत्माको महान् सुख मिलता है तब कर्म आदिके नाश हो-जानेपर तो उससे भी अधिक महान् सुख प्राप्त होगा ॥ १५ ॥

इंद्रियैश्च पदार्थानां स्वरूपं जानतोऽगिनः ।
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत् ॥ १६ ॥

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं ॥ १७ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके द्वारा पदार्थोंके स्वरूप जाननेवाले इस जीवका जो उनमें राग होता है वह सुख और द्वेष होता है वह दुःख है यह मानना नितांत भ्रम है किंतु जो पुरुष राग और द्वेष आदिसे रहित है समस्त पदार्थोंका जानकार है उसके जो समस्त प्रकारकी आकुलताका त्याग है-निराकुलता है वही वास्तविक सुख है । भावार्थ–यह जीव स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोंमें कुछ राग होनेसे सुख और उनमें द्वेष होजानेसे दुःख मानता है परंतु वास्तवमें वे दोनों ही (राग द्वेष) दुःखस्वरूप हैं क्योंकि उनसे जीवके परिणाम आकुलतामय रहते हैं किंतु जहांपर आकुलता न हो वही वास्तविक सुख है और वह सुख राग द्वेष आदिसे रहित समस्त पदार्थोंके जाननेवाले महान पुरुषके ही होता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

इंद्राणां सार्वभौमानां सर्वेषां भावनेशिनां ।
विकल्पसाधनैः खार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखं कुतः ॥ १८ ॥
तात्त्विकं च सुखं तेषां ये मन्यंते ब्रुवंति च ।
एवं तेषामहं मन्ये महती भ्रांतिरुद्गता ॥ १९ ॥

अर्थ—इंद्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवोंके स्वामियोंके जितने स्वार्थ-इंद्रियोंके विषय होते हैं वे विकल्पोंसे होते हैं-अपने अर्थोंके सिद्ध करनेमें उन्हें नानाप्रकारके विकल्प करने पड़ते हैं और उन विकल्पोंसे चित्त सदा आकुलतामय रहता है इसलिये सुख नामका पदार्थ-वास्तविक सुख उन्हें कभी प्राप्त नहिं होता। परंतु जो पुरुष, उनके सुखको वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुखकी वास्तविक सुखमें गणना करते हैं मै (ग्रंथकार) समझता हूं उनकी वह वडी भारी भूल है—वह सुख कभी वास्तविक सुख नहिं हो सकता ॥ १८ ॥ १९ ॥

विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने पदे स्थितानां सुखमत्र योगिनां।
विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां विदां यथा स्यान्न हि कस्य चित्तथा ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचिताया तत्त्वज्ञानतरगिण्या शुद्धचिद्रूपरुचये सुखस्वरूपप्रतिपादकः सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अर्थ—इसलिये जो योगिगण बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्यागकर निरुपद्रव एकांत स्थानमें निवास करते हैं, विवेकी—हित अहितके जानकार हैं, शुद्धचिद्रूपमें रक्त हैं और विद्वान हैं उन्हें ही यह निराकुलतामय सुख प्राप्त होता है उनसे अन्य किसी भी मनुष्यको नहीं ॥ २० ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरगिणीमें 'शुद्धचिद्रूपमें प्रेम वढे' इसकारण वास्तविक सुखका प्रतिपादन करनेवाला सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अठारहवां अध्याय।

श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणमपि दृढं चेतसा यो विधाय
कृत्वांतःस्थैर्यबुद्ध्या परमनुभवनं तल्लयं याति योगी।
तस्य स्यात्कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्नभव्यस्य नूनं ॥ १ ॥

अर्थ—जो योगी 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा भलेप्रकार श्रवण और श्रद्धान कर, वचन और मनसे उसेही दृढ रूपसे धारण कर, अंतरंगको स्थिरकर और परपदार्थोंको जानकर उसका (शुद्धचिद्रूपका) अनुभव और उसमें अनुराग करता है वह आसन्न भव्य-बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी क्रमसे समस्त कर्मोंका नाशकर अतिशय विशुद्ध मोक्ष मार्ग, और निराकुलतामय आत्मिक सुखका लाभ करता है। भावार्थ-मैं शुद्धचिद्रूप हूं ऐसा विना श्रद्धान और ज्ञान किये शुद्धचिद्रूपमें अनुराग नहिं हो सकता, अनुरागके विना उसका अनुभव, अनुभव न करनेसे कर्मोंका नाश, कर्मोंका नाश न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे शांतिमय सुख कदापि नहिं मिल सकता ॥१॥

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने।

व्रतांगीकरणे पश्चात्संयमग्रहणे ततः ॥ २ ॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिंतने पश्चादयमुक्तो बुधैः क्रमः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य गृहस्थ हैं उन्हें सबसे पहिले स्वाध्याय प्रतिक्रमण आदि छै आवश्यक कर्मोंके पालनेकी पश्चात् व्रतोंके धारण करनेकी और फिर संयम ग्रहण करनेकी शिक्षा देनी चाहिये परंतु जो यति हैं-निर्ग्रंथरूप धारणकर वनवासी होगये हैं उन्हें सबसे पहिले संयम पालनेकी और पीछे शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकी शिक्षा देनी चाहिये ॥२-३॥

संसारभीतितः पूर्वं रुचिर्मुक्तिसुखे दृढा ।
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोस्ति तत् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन मनुष्योंकी संसारके भयसे पहिले ही मोक्षसुखकी प्राप्तिमें रुचि दृढ़ है-जल्दी संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं समझलेना चाहिये उन्हें मुक्तिकी प्राप्तिका सुगम उपाय मिलगया-वे वहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त करसकते हैं। भावार्थ—जबतक मोक्ष पानेकी हृदयमें कामना नहिं होती- मोक्ष सुखके अनुभव करनेमें प्रेम नहिं होता तबतक कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती और उसमें प्रेम करनेसे तो वह शीघ्र ही मिल जाती है तथा जिनकी रुचि संसारसे भयभीत होनेके बाद मुक्तिसुखमें होती है यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं परंतु जो संसारके भयसे पहिले

ही मोक्षसुखमें प्रेम करनेवाले हैं वे सुगमतासे बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं--अधिक काल तक उन्हें संसारमें नहिं भटकना पड़ता ॥ ४ ॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो योगी निर्विकल्पक हैं-समस्त प्रकारकी आकुलताओंसे रहित हैं और शुद्धचिद्रूपमें लीन हैं उन्हें एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है। भावार्थ-शुद्धचिद्रूपमें लीनता होनेसे एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है इसलिये योगियोंको चाहिये कि समस्त प्रकारके विकल्पोंको छोड़कर शुद्धचिद्रूपमें ही अनुराग करैं ॥ ५ ॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनं।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥ ६ ॥
ध्यानश्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥ ७ ॥ युग्मं ॥

अर्थ—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके हैं-इन्हींके

द्वारा योगकी सिद्धि होती है इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं-समस्त कर्मोंसे अपनी आत्माको मुक्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि शास्त्रसे इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥ ६ ॥ ७ ॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमितिस्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥ ८ ॥

अर्थ—यह आत्मा 'मैं शुद्धचिद्रूप हूं' ऐसा स्मरण करते ही जब भावमुक्त होजाता है तब वह क्रमसे द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा। भावार्थ—शुद्धचिद्रूपके अंदर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्रसे ही भावसंसारसे छुटाकर भाव मोक्ष प्राप्त करता है तब वह परद्रव्य संसारका संबंध तो इस आत्मासे अवश्य ही दूर करदेगा। शुद्ध-चिद्रूपके स्मरण करनेसे कभी भी द्रव्य और भाव संसारका संबंध नहिं रह सकता ॥ ८ ॥

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि शुद्धचिद्रूपका चिंतवन किया जायगा तो प्रतिक्षण कर्मोंसे मुक्ति होती चली जायगी और यदि परपदार्थोंका चिंतवन होगा तो प्रतिसमय कर्मबंध होता रहैगा इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ९ ॥

सयोगक्षीणमिश्रेषु गुणस्थानेषु नो मृतिः ।

अन्यत्र मरणं प्रोक्तं शेषत्रिक्षपकैर्विना ॥ १० ॥

अर्थ—सयोगकेवली, क्षीणमोह मिश्र और क्षपकगुणस्थान आठवें नवमें और दशवेमें मरण नहिं होता परंतु इनसे भिन्न गुणस्थानोंमें मरण होता है ॥ १० ॥

मिथ्यात्वेऽविरते मृत्या जीवा यांति चतुर्गतीः ।
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादिगतित्रयं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें मरते हैं वे मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारक चारों गतियोंमें और सासादन गुणस्थानमें मरनेवाले नरकगतिमें न जाकर शेप तिर्यंच आदि तीनों गतियोंमें जाते हैं ॥११॥

अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यांति शिवालयं ।
मृत्वा देवगतिं यांति शेषेषु सप्तसु ध्रुवं ॥ १२ ॥

अर्थ—अयोगकेवली चौदहवे-गुणस्थानसे मरनेवाले जीव मोक्ष जाते हैं और शेप सात गुणस्थानोंसे मरनेवाले देव होते हैं ॥ १२ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कृत्वा यांत्यधुना दिवं ।
तत्रेंद्रियसुखं भुक्त्वा श्रुत्वा वाणीं जिनागतां ॥ १३ ॥

जिनालयेषु सर्वेषु गत्वा कृत्वार्चनादिकं ।
ततो लब्ध्वा नरत्वं च रत्नत्रयविभूषणं ॥ १४ ॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानबलात्कृत्वा विधिक्षयं ।
सिद्धस्थानं परिप्राप्य त्रैलोक्यशिखरे क्षणात् ॥ १५ ॥

साक्षाच्च शुद्धचिद्रूपा भूत्वात्यंतनिराकुलाः ।
तिष्ठंत्यनंतकालं ते गुणाष्टकसमन्विताः ॥ १६ ॥

अर्थ—इससमय भी जो जीव शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेवाले हैं वे मरकर स्वर्ग जाते हैं और वहां भलेप्रकार इंद्रियजन्य सुखोंको भोगकर, भगवान जिनेंद्रके मुखसे जिनवाणी श्रवणकर, समस्त जिनमंदिरोंमें जा और उनकी पूजन आदि कर, मनुष्य भव और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको प्राप्तकर, शुद्धचिद्रूपके ध्यान-से समस्त कर्मोंका क्षयकर और सिद्धस्थानको प्राप्त होकर तीनलोकके शिखिरपर जा विराजते हैं तथा वहांपर साक्षात् शुद्धचिद्रूप होकर अत्यंत निराकुल और केवलदर्शन केवलज्ञान अव्याबाधसुख आदि आठो गुणोंसे भूषित हो अनंतकालपर्यंत निवास करते हैं ॥ १३ ॥ १६ ॥

क्रमतः क्रमतो याति कीटिका शुकवत्फलं ।

नगस्थं स्वास्थितं ना च शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कीड़ी क्रम२ से धीरे धीरे वृक्षके ऊपर चढ़कर शुकके समान फलका आस्वादन करती है उसीप्रकार यह मनुष्य भी क्रम क्रमसे शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करता है। भावार्थ—जिसप्रकार कीड़ी एकदम तोतेके समान फलके पास जाकर उसका आस्वादन नहिं कर सकती किंतु पृथ्वीसे वृक्षके मूलभागपर चढ़कर धीरे धीरे फलके पास पहुंचती है और पीछे उसके रसका स्वाद लेती है उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपका चिंतवन भी कोई मनुष्य एक साथ नहिं कर सकता किंतु क्रम क्रमसे परद्रव्योंसे अपनी ममता दूर करता हुआ उसका चिंतवन करसकता है ॥ १७ ॥

गुर्वादीनां च वाक्यानि श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
कृत्वाभ्यासं यदा याति तद्धि ध्यानं क्रमागतं ॥ १८ ॥
जिनेशागमनिर्यासमात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः ।
विनाभ्यासं यदा याति तद्ध्यानं चाक्रमागतं ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष गुरु आदिके वचनोंको भलेप्रकार श्रवणकर और शास्त्रोंका भलेप्रकार अभ्यासकर शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करता है उसके क्रमसे शुद्धचिद्रूपका चिंतवन-ध्यान कहा जाता है। किंतु जो पुरुष भगवान जिनेंद्रके शास्त्रोंके तात्पर्यमात्रको बतलानेवाले गुरुके वचनोंको श्रवणकर अभ्यास नहिं करता-बारबार शास्त्रोंका मनन चिंतवन नहिं करता उसके जो शुद्धचिद्रूपका ध्यान होता है वह क्रमसे नहिं होता ॥ १८ ॥ १९ ॥

न लाभमानकीर्त्यर्थां कृता कृतिरियं मया ।
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे प्रीतिः सैवात्र कारणं ॥ २० ॥

अर्थ—अंतमें ग्रंथकार ग्रंथके निर्माणका कारण बतलाते हैं-कि यह जो मैंने ग्रंथ बनाया है वह किसीप्रकारके लाभ मान वा कीर्त्ति की इच्छासे नहिं बनाया परंच शुद्धचिद्रूपमें मेरा गाढ़ा प्रेम है इसीकारण इसका निर्माण किया है।

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेग्रणी–
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ॥ २१ ॥

अर्थ–मूलसंघके आचार्योंमें अग्रणी-सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकल कीर्ति हुये उनके पट्टरूपी उदयाचलपर सूर्यके समान भव्यरूपी कमलोंको आनंद प्रदान करनेवाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुये उन्हींके चरणकमलोंका भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टरक हूं जिसने कि इस तत्त्वज्ञानतरंगणी ग्रंथका निर्माण किया है ॥ २१ ॥

क्रीडंति ये प्रविश्येमां तत्त्वज्ञानतरंगिणीं ।
ते स्वर्गादिसुखं प्राप्य सिद्ध्यंति तदनंतरं ॥ २२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञानतरंगिणी-तत्त्वज्ञानरूपी नदीमें प्रवेशकर क्रीडा-अवगाहन करेंगे वे स्वर्ग आदिके सुखोंको भोगकर मोक्षसुखको प्राप्त होंगे-स्वर्ग सुखके भोगनेके बाद उन्हें अवश्य मोक्षसुखकी प्राप्ति होगी ॥ २२ ॥

यदैव विक्रमातीताः शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिससमय विक्रम संवत्के पंद्रहसौ साठ वर्ष (शक संवतके चौदहसौ पचीस अथवा खीष्ट संवतके पंद्रहसो तीन वर्ष) बीत चुके थे उससमय इस तत्त्वज्ञानतरंगिणीरूपी कृतिका निर्माण किया गया ॥ २३ ॥

ग्रंथसंख्यात्र विज्ञेया लेखकैः पाठकैः किल ।
षट्त्रिंशदधिका पंचशती श्रोतृजनैरपि ॥ २४ ॥

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचिताया तत्वज्ञानतरंगिण्या शुद्धचिद्रूपप्राप्तिक्रमप्रतिपादकोऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अर्थ—इस ग्रंथकी सब श्लोक संख्या पांचसौ छत्तीस है ऐसा लेखक पाठक और श्रोताओंको समझलेना चाहिये अर्थात् यह ग्रंथ पांचसौ छत्तीस श्लोकोंमें समाप्त हुआ है ॥ २४ ॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणद्वारा विरचित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके क्रमका प्रतिपादन करनेवाला अठारहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

इति श्रीतत्त्वज्ञानतरंगिणी संपूर्णा ।